[आचार्य प्रवर श्री नानेश के आचार्य पद के पच्चीसवें वर्ष के उपलक्ष्य मे]

लोभ-समीक्षण



आचार्य श्री नानेश



प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग
बीकानेर-३३४००१ (राजस्थान)



प्रथम सस्करण १९८७



मूल्य दस रुपये



मुद्रक
फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
जौहरी बाजार, जयपुर-३०२००३

प्रकाशकीय

साधुत्व की पवित्र धारा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए बडे-बडे आचार्यों ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। भगवान् महावीर के बाद अनेक बार आगमिक धरातल पर क्रांति का प्रसग आया है, जिसका उद्देश्य श्रमण सस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने का रहा है। ऐसी क्रान्ति-धारा मे क्रियोद्धारक महान् आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म सा का नाम विशेष रूप से उभरकर सामने आता है। तत्कालीन युग मे जहा शिथिलाचार व्यापक तौर पर फैलता जा रहा था, शुद्ध साधुत्व की स्थिति विरल ही परिलक्षित होती थी। बडे-बडे साधु भी मठो की तरह उपाश्रयो मे अपना स्थान जमाये हुए थे। चेलो के पीछे साधुता बिखरती जा रही थी। ऐसे युग मे आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म सा ने उपदेशो से नही अपितु अपने विशुद्ध एव उत्कृष्ट सयममय जीवन से जनमानस को प्रभावित किया। आचार्य प्रवर केवल तपस्वी अथवा सयमी ही नही थे वरन् श्रमण सस्कृति के गहरे अध्येता श्रुतधर थे। आपके जीवन का ही प्रभाव था कि हजारो स्त्री-पुरुष आपके चरण सान्निध्य को पाने के लिए लालायित रहते थे। 'तिन्नाण तारयाण' के आदर्श आचार्य प्रवर ने योग्य मुमुक्षुओ को दीक्षित किया और जो देशव्रती बनना चाहते थे, उन्हे देशव्रती बनाया। इस प्रकार सहज रूप से ही चतुर्विध सघ का प्रवर्तन हो गया।

समुद्र मे जिस प्रकार दूर तक गगा का पाट दिखाई देता है वैसे ही जैन धर्म के समुद्र मे आचार्य प्रवर की यह धारा एकदम अलग-थलग सी परिलक्षित होने लगी। यहा से फिर साधु मार्ग मे क्रान्ति घटित हुई, जो पश्चाद्वर्ती आचार्यो से निरन्तर आगे बढी।

शान्त क्रांति के अग्रदूत स्व० आचार्य श्री गणेशीलालजी म सा की स्मृति मे श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ ने श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार की स्थापना की। ज्ञान भण्डार मे अनेकानेक प्रकाशित एव हस्तलिखित ग्रन्थो का सग्रह हुआ है। हस्तलिखित अप्रकाशित ग्रन्थो का सचयन कर उन्हे अ भा साधुमार्गी जैन साहित्य समिति सर्वजन हितार्थ प्रकाशित कर रही है। इसी सकल्प की क्रियान्विति मे इस कृति को श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार से प्राप्त कर आचार्य प्रवर श्री नानेश के आचार्य पद के 25वे वर्ष के उपलक्ष्य मे प्रकाशित करने मे सघ हार्दिक सतुष्टि का अनुभव कर रहा है।

जैन-दर्शन मे आत्म-पुरुषार्थ द्वारा परमात्म तत्त्व को प्राप्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। यह परमात्म तत्त्व प्रत्येक जीवात्मा मे निहित है पर कापायिक प्रवृत्तियो के कारण वह सुपुप्त बना रहता है। कषाय पर विजय प्राप्त करना ही परमात्म तत्त्व से साक्षात्कार करना है। कषाय के मुख्य चार प्रकार है क्रोध, मान, माया और लोभ। क्षमा, विनम्रता, सरलता और सन्तोप जैसे आत्मगुणो का विकास कर इन पर नियन्त्रण किया जा सकता है।

कषाय चतुष्क मे लोभ कषाय चतुर्थ है। आचार्य श्री ने इस कृति मे लोभ मनोविकार के स्वरूप, प्रकार, उत्पत्ति, अभिव्यक्ति, दुष्प्रभाव एव उसके शमन/विजय के उपाय आदि बिदुओ पर लोक एव शास्त्र तथा धर्म एव मनोविज्ञान के धरातल पर अनुभूतिपरक समीक्षण प्रस्तुत किया है जो पाठको व साधको के लिए समान रूप से उपयोगी है। इसके लिए सघ आचार्य प्रवर के प्रति अनन्त श्रद्धा समर्पित करता है। साथ ही आचार्य प्रवर के मुखारविन्द से प्रस्फुटित होने वाली प्रस्तुत अभिव्यक्ति को विद्वद्वर्य श्री विजयमुनि जी म सा एव सेवाभावी श्री प्रकाश मुनि जी म सा ने लिपिबद्ध किया, उनके प्रति सघ आभारी है।

इस कृति के प्रकाशन-सम्बन्धित प्रबन्धन-सम्पादन मे डॉ नरेन्द्र भानावत ने जो महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया तदर्थ वे धन्यवादार्ह है।

आशा है, यह कृति लोभ-शमन मे हमारा पथ-प्रदर्शन करेगी और इससे लोभ-विजय की प्रेरणा जागेगी।

चुन्नीलाल मेहता	**धनराज बेताला**	**गुमानमल चौरड़िया**
अध्यक्ष	मत्री	सयोजक, साहित्य समिति

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

लोभ समीक्षण

प्राणी वर्ग के साथ अनेक विविधताएँ जुटी हुई रहती हैं। क्योंकि संसार परिभ्रमण के रहते हुए कर्मों का बहुत बड़ा जाल प्रकोष्ठ के रूप मे रहा हुआ है। उस प्रकोष्ठ के अन्तर मे कर्मों की विविध विचित्रताएँ एव फलाभिव्यक्ति का कार्य सम्पन्न होता रहता है। वे कार्य निष्कारण नही होते। उनके पीछे कारण का सम्बन्ध जुड़ा रहता है। माया भी एक कार्य है। उसका कारण है लोभ/कारण की अपेक्षा कार्य देखने मे विशेष सुगम होता है। कारण उसकी अपेक्षा सूक्ष्मत्व परिणाम परिणत होने से दु खलोकन होता है। कारण और कार्य का बाह्य रूप एक सा नहीं होता, भले ही वह कारण उपादान हो या निमित्त अथवा इन दोनों कारणों का समन्वय रूप समर्थ कारण सामग्री। इन सभी का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है। उपादान कारण अपनी उपादान सबधी पर्याय का विलय कार्य रूप मे कर देता है अर्थात् उपादान कारण ही कार्य रूप मे परिणत हो जाता है, कार्य मे उपादान की आकृति रूप पर्याय दृष्टिगत नही होती है किन्तु उससे भिन्न ही कार्य की आकृति रूप पर्याय अभिव्यक्त होती है।

कुम्भकार तथा उसका सम्यक्ज्ञान पूर्वक पुरुषार्थ होगा तभी कार्य की निष्पत्ति हो पायेगी। यह सभी कारण मिलकर घट की समर्थ कारण सामग्री कहलाते है।

इससे भली-भाति जाना जा सकता है कि कारणो की आकार पर्याय कार्य की आकार पर्याय के अनुरूप हो, यह नियम नही है। कार्य की आकार पर्याय भिन्न होने पर भी उससे कारण सामग्री का अर्थात् कार्य रूप मे परिणत उपादान का एव निमित्तकर्ता के क्रियाकलापो आदि का आभास हो जाता है। कार्य कारण की विज्ञप्ति भली-भाँति की जा सकती है। कारणो के अभाव में कार्य की निष्पत्ति नही हो सकती, इस अटल नियम के अनुसार माया रूप कार्य का कारण भी अवश्यभावी है और वह कारण माया पर्याय की अवस्था से भिन्न भी पाया जाता है। वह कारण है लोभ/लोभ पर्याय शब्द, रूप, गध, रसादि से सम्बद्ध होने से अनेक प्रकारो मे आत्मा मे विद्यमान रहता है। जिस किसी भी रूप मे लोभ मनुष्य के मन मे घर कर लेता है वह मनुष्य उसको प्राप्त करने के लिए तिलमिला उठता है। यदि उसे यह ज्ञात होता है कि जिसको मैं प्राप्त करना चाहता हूँ उसको अन्य पुरुप भी पाना चाहता है, तो वह सोचता है कि वह उसे प्राप्त करले, इसके पहले प्राप्त करने के लिए मुझे पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए, मुझे सतर्कता पूर्वक इसमे सलग्न होना है। यह सोचकर वह उस अन्य व्यक्ति से सम्पर्क साधता है। उससे कहता है—यह वस्तु तो मुझे लेनी है। मैंने इसको पहले ही लेने का विचार किया है। आप अन्य कोई देखिए, मेरे बीच मे आने का विचार छोड दीजिए। इस तरह वह प्रारम्भ मे तो सही रूप मे पेश आता है लेकिन उन प्रयत्नो मे वह सफलता नही प्राप्त करता है तो फिर अनेक प्रकार को कल्पनाएँ करता है। इसी के अन्तर्गत माया का ताना वाना भी वुनता है। उस माया मे वह इतना लिप्त वन जाता है कि उसे अन्य कोई उपाय ही नही दिख पाता। हर कदम मे इसी दृष्टिकोण से पाने की सोचता है। यह माया रूप कार्य की आकृति विभिन्न प्रकार की होती है।

अतएव समीक्षण ध्यान के साधक को पूर्ण सावधानी वरतनी होती है एव समीक्षण दृष्टि को इतना तीक्ष्ण वनाना पडता है कि जिसमे माया को सागोपाग–समग्र रूपेण देखता हुआ माया के कारणो को देखने मे सक्षम वन सके। ऐसी अवस्था मे ही यह कहा जा सकता है कि जिसने माया को देखा उसने लोभ को देखा—"जे मायादसी से लोभदसी।"

पाप का वाप–लोभ

चैतन्य का मौलिक स्वरूप पापमय वृत्तियो मे परे होने पर भी उसको पाप मे रचा-पचा-तल्लीन पाया जाना है। इतना निमग्न पाया जाता है कि उसको स्वय का भी भान नहीं होता। पाप-कर्म से क्या कुछ परिणाम आने वाला

चैतन्य देव की शक्ति का कितना दुरुपयोग होता है, यह सब लोभ-ग्रस्त चैतन्य देव देख नही सकता। उस वह समय इतना मूर्च्छित हो जाता है कि जिससे स्वशक्ति का एव आत्मीय सम्पदा का कौन कितना दुरुपयोग कर रहा है? कितनी लूट पाट हो रही है? इसका कुछ भी भान उसे नही रहता। एक दृष्टि से देखा जाय तो स्त्यान ग्रद्धि निद्रा की उपमा भी उसके लिए हीनोपमा प्रतीत होती है।

मानव लोभ की प्रगाढ निद्रा मे इस प्रकार सोया हुआ है कि जिससे उसे जागृत करना सर्वथा असभव नही तो अति कठिन अवश्य है। यह इस चैतन्य देव की प्रसुप्ति जब तक समाप्त न हो तब तक इस लोभ का स्वरूप उसको सही तरीके से ज्ञात नही हो सकेगा। अतएव सर्वोच्च परम पावन साध्य की उपलब्धि हेतु साधक को चाहिए कि वह सबसे पहले तटस्थ भाव से समता का स्वरूप समझे। तदनन्तर उसी भूमिका पर स्थिर बन करके समीक्षण दृष्टि को भीतर मे अभिव्यक्त करे। क्योकि जो जहाँ रहता है उसको देखने के लिए वही पर सम्यक् अवलोकन करने वाली दृष्टि जागृत करना अत्यावश्यक है।

लोभ का स्वरूप भीतर है। अतएव भीतरी समीक्षण दृष्टि भी उसी स्थल पर रहे हुए तथ्य को देखने योग्य बननी चाहिए। समीक्षण दृष्टि का प्रकटीकरण आन्तरिक शुद्ध चेतना के धरातल पर ही होना नितान्त आवश्यक है। अतएव साधक के अन्त करण मे इस विषयक तीव्र जिज्ञासा का प्रादुर्भाव होना आवश्यक है इसके बिना साधक सफलीभूत नही हो सकता। क्योकि जब तक लोभ को देखने योग्य समीक्षण दृष्टि उपलब्ध नही होगी तब तक लोभ का समीक्षण हो नही पायेगा। उसे देखे बिना उसकी निवृत्ति भी नही हो सकेगी। यह एक ऐसा ध्रुव सत्य है कि जिसको तीन काल मे भी नकरा नही जा सकता। अतएव प्रत्येक मानव को सोचना चाहिए कि मुझे वास्तविक सुख शान्ति चाहिए तो मैं अविलम्ब समीक्षण ध्यान साधना मे तन्मय बन जाऊँ। उसके लिए यही एक मात्र साधन है।

इसकी साधना के बिना कितनी भी विकट-से-विकट एव कठिन-से-कठिन साधना के आयामो को अपनाया जाय, वे सभी आयाम विफल ही रहेगे। कितना ही कुछ तपश्चरण किया जाय किन्तु वह तपश्चरण समीक्षण ध्यान स्वरूप प्राणो से ओत-प्रोत नही होगा तो वह पुण्य बध का हेतु बन सकता है एव भौतिक क्षणिक सुखाभासो की उपलब्धि करा सकता है, किन्तु परम सुख शान्ति का कारण नही बन सकता। अतएव साधक का साधना क्षेत्र मे प्रवेश पाने के लिए साधना की सुरक्षा हेतु नियमोपनियमो का परिपालन करते हुए समीक्षण ध्यान की साधना मे तन्मय हो जाना ही श्रेयस्कर है।

यह ध्यान साधना भी वीतराग देव द्वारा प्रतिपादित आभ्यन्तर तप के

तत्पर नही वनता है, किन्तु प्रति समय जिन विकारी शब्दो के साथ आसक्ति है, उन्ही को श्रवण करने के लिए लालायित रहता है। यद्यपि वास्तविक शान्ति प्रदायक शब्द एव विकारोत्पादक शब्द शब्दत्व की दृष्टि से समान है फिर भी विकारी शब्दो को पसद करने मे विकृत वृत्ति की आसक्ति ही हेतु भूत है।

यह भी एक प्रकार का लोभ है जिसका सवरण चैतन्य नही कर पाता, क्योकि ऐसे लोभ के पीछे उसने अपने आपको समर्पित कर दिया होता है। उन मोहोद्दीप्त शब्दो को ही सर्वोपरि आनन्दप्रद समझा गया। इसका दुष्परिणाम क्या होगा ? इस विषय मे चिन्तन को अवकाश ही नही दिया। चैतन्य देव की यह शब्द सवधी पराधीनता असीम आत्मीय शक्तियो को सकुचित तथा स्व-पर के लिए अहितकर वना देती है। उच्च लोभ के आवर्तन मे डाल देती है। यह कितनी चितनीय दशा है चैतन्य देव की ! इसकी सपूर्ति न होने पर स्व-पर के ऊपर क्षुव्ध होना एव विद्वेष का वायुमण्डल तैयार करना पडता है। स्व के ऊपर क्षोम इसलिए होता है कि शक्य प्रयत्न करने पर भी इच्छित शब्द की प्राप्ति नही हुई। अन्य को ऐसे शब्द सुलभता से प्राप्त हो रहे है। ये इनको प्राप्त क्यो हो रहे है। यह जानकर अन्य पुरुष पर क्षोभ होता है और सोचता है कि उसे भी प्राप्त न हो तो अच्छा।

जब अन्य पुरुष को इस पुरुष की भावना विदित हो जाती है तब वह सोचता है कि निष्कारण मुझ पर यह क्यो क्षुब्ध हो रहा है ? मैंने इसका कुछ भी नही बिगाडा, न कुछ इसका लिया है। फिर भी मुझ पर इसका क्षोभ होना अतीव विचारणीय है। ऐसा सोचकर वह इसका प्रतीकार करने के लिए तत्पर बनता है। तब इसको क्लेश होने लगता है। इस प्रकार शब्द सबधी लोभ लोभी मनुष्य के लिए स्व-पर के ऊपर क्षोभ और क्लेशोत्पत्ति मे निमित्त बनता है।

अन्यो के लिए भी उससे दूषित वायुमण्डल निमित्त होता है। इसलिए साधक को चाहिए कि ऐसे लोभ का समीक्षण करे। इसके लिए प्रतिदिन स्वय की चित्त वृत्तियो का प्रतिलेखन करता हुआ यह जाने, देखे कि जिस वस्तु को मैं पसद करता हूँ, वह मेरी पसदगी समीचीन पसदगी नही, किन्तु वैकारिक पसदगी है। मोह एव विद्वेष की ज्वाला रूप पसदगी है। इसमे मैं अपनी कोमल वृत्तियो को झुलसाने का कार्य कर रहा हूँ। समस्त आन्तरिक कोमल वृत्तियो को भस्मीभूत करने का उपक्रम कर रहा हूँ इससे बढकर मेरी अन्य आन्तरिक हानि और क्या हो सकती है ? अतएव मैं सावधान हो करके शब्द सबधी लोभ का समीक्षण कर स्व-स्वरूप को पहचानूँ। स्व-स्वरूप को पहचाने बिना त्रिकाल मे भी बाह्य पदार्थ जन्य क्षोभ और क्लेश से रहित नही बन पाऊँगा। ऐसी दशा मे प्राप्त यह अमूल्य जीवन विनष्ट हो जाएगा। इससे एक जन्म ही नही, अनेक जन्मो

विक्षिप्त से हो जाते है। कई उस दृश्य वस्तु की प्राप्ति के लिए आर्त-रौद्र ध्यान मे डूबे रहते है। कई अति चिन्ता के कारण मानसिक रोग से रुग्ण बन जाते है एव अपवर्तनीय आयुष्य को जल्दी समाप्त कर परलोक की यात्रा के लिए प्रयाण कर देते है।

यह एक ऐसा लोभ है जिसका जन-साधारण को ज्ञान ही नही हो पाता। जिस पुरुष पर यह असर करता है उस पुरुष को भी पता नही लगता है कि मैं क्या कर रहा हूँ ? किस विकार का शिकार हो रहा हूँ ? इस लोभ का परिवेश इतना अपरिच्छेद है कि सहसा कोई विदित नही कर पाता। इसके अविदित रहने से कई विकट समस्याओ मे जीव को उलझना पडता है। ससार के भव-भ्रमण का सिलसिला चालू ही रहता है। अनादि काल से कई भक्ति जीव भी ससार में परिभ्रमण कर रहे हैं, यह इसी का प्रभाव है।

सम्यग्दृष्टि भाव के बिना इस दशा से उबरना शक्य नही। अतएव समीक्षण ध्यान के माध्यम से इस विषय में प्रवेश पाना चाहिए। प्रारम्भ मे समता भाव पूर्वक समीक्षण दृष्टि का विकास कठिन-सा ज्ञात हो सकता है, किंतु निरन्तर अभ्यास करते रहने से उसमे प्रगति सहज हो सकती है। आन्तरिक वृत्तियो का निरीक्षण करते रहने से उसमे तीक्ष्णता आ सकती है। इसी तरह साहस के साथ धैर्यपूर्वक आगे बढते रहने से एक न एक दिन लोभ के परिणाम को यथार्थत जाना जा सकता है। उस परिणाम की पगडण्डी से आगे बढने पर इस प्रकार के लिये हुए लोभ को भी देखा जा सकता है। इसकी निवृत्ति का सत्पुरुषार्थ करने से इससे छुटकारा भी पाया जा सकता है किंतु सतत जागरूक बने रहने की आवश्यकता तो है ही।

यह एक ऐसी साधना है कि जिसमे वडे-वडे साधक भी पूर्णरूपेण सफलीभूत नही हो पाये। कई साधको ने अन्तर्यात्रा प्रारम्भ की, कुछ दूर जाने पर प्रतिकूलता विदित होने लगी। उस प्रतिकूलता से सघर्ष करने की क्षमता स्वय के अन्दर न पायी। वे वही पर रुक गये। आगे की सफलता उनके चरण नही चूम पायी।

कई साधक प्रारम्भ मे उत्साह के साथ आगे वढे। पहली श्रेणी के साधक की अपेक्षा साहस धारण कर प्रतिकूलता से हतोत्साह न होते हुए कुछ अधिक मजिल तय कर पाये। किंतु अनुकूल परिस्थितियो का दृश्य सन्मुख आने लगा। जन समुदाय से सत्कार सम्मान मिलने लगा। यश कीर्त्ति प्रसारित होने लगी। उसको पचा नही सके न ही उसमे निर्लिप्त ही रहे, आन्तरिक वृत्ति मे उस अनुकूल परिस्थिति से ऊपर उठने की क्षमता अर्जित नही हो पाती और वे उस साधना मार्ग मे आगे नही वढ पाये। स्वय की यशोकीर्ति मे ही सन्तुष्ट हो गये। ऐसे साधको को भी इस विषयक सफलता मे वचित रहना पडा।

विक्षिप्त से हो जाते हैं। कई उस दृश्य वस्तु की प्राप्ति के लिए आर्त-रौद्र ध्यान मे डूबे रहते है। कई अति चिन्ता के कारण मानसिक रोग से रुग्ण बन जाते है एव अपवर्तनीय आयुष्य को जल्दी समाप्त कर परलोक की यात्रा के लिए प्रयाण कर देते है।

यह एक ऐसा लोभ है जिसका जन-साधारण को ज्ञान ही नही हो पाता। जिस पुरुष पर यह असर करता है उस पुरुष को भी पता नही लगता है कि मैं क्या कर रहा हूँ? किस विकार का शिकार हो रहा हूँ? इस लोभ का परिवेश इतना अपरिच्छेद है कि सहसा कोई विदित नही कर पाता। इसके अविदित रहने से कई विकट समस्याओ मे जीव को उलझना पडता है। ससार के भव-भ्रमण का सिलसिला चालू ही रहता है। अनादि काल से कई भक्ति जीव भी ससार मे परिभ्रमण कर रहे हैं, यह इसी का प्रभाव है।

सम्यग्दृष्टि भाव के बिना इस दशा से उबरना शक्य नही। अतएव समीक्षण ध्यान के माध्यम से इस विषय मे प्रवेश पाना चाहिए। प्रारम्भ मे समता भाव पूर्वक समीक्षण दृष्टि का विकास कठिन-सा ज्ञात हो सकता है, किंतु निरन्तर अभ्यास करते रहने से उसमे प्रगति सहज हो सकती है। आन्तरिक वृत्तियो का निरीक्षण करते रहने से उसमे तीक्ष्णता आ सकती है। इसी तरह साहस के साथ धैर्यपूर्वक आगे बढते रहने से एक न एक दिन लोभ के परिणाम को यथार्थत जाना जा सकता है। उस परिणाम की पगडण्डी से आगे बढने पर इस प्रकार के लिये हुए लोभ को भी देखा जा सकता है। इसकी निवृत्ति का सत्पुरुषार्थ करने से इससे छुटकारा भी पाया जा सकता है किंतु सतत जागरूक बने रहने की आवश्यकता तो है ही।

यह एक ऐसी साधना है कि जिसमे बडे-बडे साधक भी पूर्णरूपेण सफलीभूत नही हो पाये। कई साधको ने अन्तर्यात्रा प्रारम्भ की, कुछ दूर जाने पर प्रतिकूलता विदित होने लगी। उस प्रतिकूलता से संघर्ष करने की क्षमता स्वय के अन्दर न पायी। वे वही पर रुक गये। आगे की सफलता उनके चरण नही चूम पायी।

कई साधक प्रारम्भ मे उत्साह के साथ आगे बढे। पहली श्रेणी के साधक की अपेक्षा साहस धारण कर प्रतिकूलता से हतोत्साह न होते हुए कुछ अधिक मजिल तय कर पाये। किंतु अनुकूल परिस्थितियो का दृश्य सन्मुख आने लगा। जन समुदाय से सत्कार सम्मान मिलने लगा। यश कीर्त्ति प्रसारित होने लगी। उसको पचा नही सके न ही उससे निर्लिप्त ही रहे, आन्तरिक वृत्ति मे उस अनुकूल परिस्थिति से ऊपर उठने की क्षमता अर्जित नही हो पाती और वे उस साधना मार्ग मे आगे नही बढ पाये। स्वय की यशोकीर्ति मे ही सन्तुष्ट हो गये। ऐसे साधको को भी इस विषयक सफलता से वचित रहना पडा।

कुछ साधक प्रतिकूल और अनुकूल सभी रुकावटो मे विचलित न होते हुए समीक्षण दृष्टि से उन प्रतिकूल एव अनुकूल आपत्तियो को देखते हुए रुके नही आगे बढते गये, लेकिन कुछ आन्तरिक लब्धियो की प्राप्ति मे उलझने लगे। वे प्राप्त लब्धियो का प्रयोग करने लगे, जिसके परिणामस्वरूप उनकी शक्ति इन्ही मे नियोजित हो गयी। फल यह हुआ कि वे भी आगे नही बढ सके।

जिन साधको ने अनुकूल एव प्रतिकूल समस्त परिस्थितियो को समताभाव पूर्वक यथा योग्य समझते हुए अपने मन पर उनका असर नही होने दिया एव उपलब्ध होने वाली लब्धियो-ऋद्धि-सिद्धियो को ध्येय की उपलब्धि की तुलना मे नगण्य समझा एव उनके प्रयोग मे शक्ति का नियोजन न कर अभीष्ट साध्य की सिद्धि मे ही लगे रहे, वे अन्ततोगत्वा ऐसे लोभ का भी भलीभांति समीक्षण कर पाये।

समीक्षण मे उनको सबल मिला। उसके प्रभाव से, उन्हे जो उपलब्धिया प्राप्त हुई उन उपलब्धियो से भी उनको अग्रिम मजिल के लिए नूतन सबल मिला। आखिर समीक्षण का कार्य अति सुगम बन गया। जैसे कोई राजमार्ग पर निर्भयतापूर्वक आगे बढता है उसी प्रकार वे आगे बढते रहे। इस गति से उनको जो सतृप्ति मिली वह उनके जीवन से कभी भी विलग होने की स्थिति मे नही रहा। अतएव साधना पथ पर स्वय के चरण को आगे बढाने के लिए शुरू मे ही दृढ सकल्प के साथ इतना धैर्य धारण करना चाहिए कि जिससे यात्रा मे कितना ही अनुकूल एव प्रतिकूल परिस्थितियो का आघात क्यो न लगे, किंतु धैर्य का धागा टूटना तो दूर, इधर से उधर झुक भी न पाये, बल्कि अधिक सशक्त होता हुआ दृढतम बने। यथा—स्वय को पहलवान बनाने की इच्छा रखने वाला अपने साथियो से कहता है—कि मेरी भुजा पर मुक्के मारो अथवा डण्डो से प्रहार करो, इस प्रकार वह अपने शरीर को लगने वाले आघातो से अधिक मजबूत बनाता है। उसमे प्रसन्नता का अनुभव करता है। उन प्रतिकूल आघातो को भी अनुकूल मानता है। क्योकि उनसे शारीरिक शक्ति का सवर्धन होता है। वैसे ही सच्चा समीक्षण ध्यानी आने वाले परीषहोपसर्गों से खिन्न न होकर स्वकीय मानसिक धैर्य को दृढ बनाने के लिए उन्हे अपना सहायक समझ कर चलता है।

ऐसी भावना से वह साधक अपनी मानसिक अवस्था को पहलवान के तुल्य ऐसी दृढीभूत बना लेता है जिससे उसके धैर्य का धागा कभी भी टूट नही सकता। इस प्रकार विवेकपूर्वक ज्ञान उपलब्ध करता हुआ तदनुरूप आचरण की दृढता मे सही रहता हुआ वह अपनी अन्तर्यात्रा मे अवश्यमेव सफल होता है। अवश्यमेव

अन्य परिवेश

प्राणी सृष्टि का एक विशिष्ट अग है। यह किसी सर्वशक्ति सम्पन्न विशिष्ट पुरुष की देन नही है, किंतु प्राणी के अन्दर रहे प्राणो के स्वामी की देन है। वह जब तक अपना स्वामित्व नही समझता है, अपने आपकी विशिष्ट गरिमा का मूल्याकन नही करता है, तब तक पर निमित्त से (कर्मोदय से) प्राप्त प्राणो को ही अपना प्राण समझ करके चलता है। वैसी अवस्था मे वह प्राणो का स्वामी प्राणो का सेवक बना रहता है। उन्ही प्राणो की उपासना मे वह अपने आपको नियोजित करके चलता है।

वास्तविक ज्ञान के अभाव मे भव-भ्रमण करता हुआ प्राणी न्यूनाधिक-प्राणो को पाता है। जैसे-जैसे प्राणो का कुछ विकास करता है वैसे-वैसे इन्द्रियो का विकास भी कर पाता है। उन इन्द्रियो मे विविध प्रकार की शक्ति, विविध विपयो को ग्रहण करने की क्षमता होती है। उससे अलग-अलग अनुभूति स्वय की योग्यतानुसार पाता है। उनमे घ्राणेन्द्रिय भी एक है। अन्य इन्द्रियो की शान्ति भी अपने कार्य मे रत होती है। वह जीवन के लिए अनिवार्य वायु को ग्रहण करती एव छोडती है। इसके अतिरिक्त उसका मुख्य कार्य गध ग्रहण का होता है। गधो मे भी अनेक प्रकार है। उनमे से जिस गध पर आसक्ति के अध्यवसाय होते है उस गध को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति प्रयत्नशील रहता है। फिर भी सभी समय अभीष्ट गध युक्त पदार्थ को वह पा ही जाय, ऐसा नियम नही है। परन्तु लालसा प्राय सदा उसी अभीष्ट गध को पाने की बनी रहती है। जब कभी अभीष्ट गध का योग समुपलब्ध हो, उस वक्त उसी गध का लोभी अन्य प्राणी उसको पाने के लिए आ पहुँचता है। तब वह उसके प्रति प्रतिपक्षी की दृष्टि बना लेता है। उसको हर प्रकार से हटाने के लिए शक्ति भर प्रयत्न करता है। कभी-कभी तो उस सघर्ष से जीवन तक को समाप्त कर देता है।

कई प्राणी सुगन्ध वाले लुभावने पदार्थ मे इतने आसक्त हो जाते है कि जिससे वे उस गध को छोडना ही नही चाहते। उनको कोई कितना भी सचेत करे कि इतनी गध का उपभोग कर लिया अब इस स्थल को छोड अन्यत्र चले जाओ। यहाँ जमे रहने से आपत्ति आ सकती है। रात्रि का समय हो रहा है। रात्रि मे कैसो क्या वोते कोई आकर के गध के माध्यम से ही लूट ले। उस माध्यम मे यदि रहोगे तो जीवन से हाथ धो वैठोगे।' इत्यादि कहने पर भी उसमे वह लोभ नही छूटता। वह कहता है कि सूर्यास्त हो रहा है तो होने दो। रात्रि आने दो। कौनसी आपत्ति आने वाली है! बात की बात मे रात्रि व्यतीत हो जायेगी। मै अपने इष्ट के साथ रहता हुआ सूर्य का प्रकाश देख लूगा। इसी कल्पना मे आसक्त बना वह प्राणी आशातृप्ति के बिना ही विपदा से घिर जाता है और लोभ के आधारभूत सुगधित वस्त्र सहित विनष्ट हो जाता है। ऐसी दशा

कभी-कभी अन्य प्राणियों को होती ही है। किंतु जिन प्राणियों को कुछ बौद्धिक विज्ञान होता है वे भी सम्यक् विज्ञान के अभाव में गंध के लोभ में अनेक आपत्तियों के शिकार बन जाते हैं। गंध की संतुष्टि के लिए अपने को विपन्नता में डाल देते हैं।

इसी प्रकार स्वाद के लोभ में भी अनेकों प्राणी मरण-शरण हो जाते हैं। यह स्वादेन्द्रिय सम्बन्धी लोभ भी इतना खतरा उत्पन्न करने वाला होता है कि जिसका वर्णन शब्दों के माध्यम से कहना अशक्यप्राय है।

जिनके पास विशेष चिन्तन शक्ति नहीं है वे रसनेन्द्रिय के अधीन होकर प्राणों की आहुति दें, उसमें विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। पर जिनके पास चिन्तन की शक्ति है, जीवन की महत्ता को विश्लेषित करने की बौद्धिक क्षमता है, वे भी सम्यक्ज्ञान के अभाव में स्वाद-लोलुपता के वशीभूत होकर अमूल्य मनुष्य-जीवन को भी खतरे में डाल देते हैं। क्षुधा है या नहीं, पाचन तंत्र कार्य करता है या नहीं, इसका ध्यान रखे बिना ही खाने के लोभ में जायकेदार पदार्थ पेट में डालते रहते हैं। पाचन की कमी के कारण अन्दर ही अन्दर वे पदार्थ सड़ने लगते हैं। उसके दुष्परिणाम जीवन में भुगतने पड़ते हैं। गैस की बीमारी हो जाती है, बेचैनी हो जाती है। अनेक औषधियाँ लेने पर भी उससे छुटकारा नहीं मिलता। दर्द से बेचैनी बढ़ जाती है। टाइफाइड, फोड़े-फुन्सी हो जाते हैं। अजीर्ण संबंधी अनेक बीमारियाँ तथा अनेक वातपित्त सम्बन्धी रोगों से ग्रस्त हो जाने पर उनसे निवृत्ति पाना अति ही कठिन हो जाता है। इतनी कठिनाइयाँ आने पर भी रस का लोभी स्वाद के लोभ को छोड़ नहीं पाता।

सबधी लोभ से ग्रस्त अनेकानेक समझदार कहलाने वाले पुरुप इस बीमारी से बचने मे समर्थ नही हो पाते। वे अपना अहित तो करते ही है परन्तु परिवार,समाज, राष्ट्र एव विश्व का भी बहुत बडा अहित कर बैठते है। क्योकि अनेक प्राणी आवश्यक जीवन निर्वाह सम्बन्धी सामग्री भी पूरी प्राप्त नही कर पाते। कभी आधे भूखे तो कभी पूरे भूखे रहते है और कभी शरीर को पोपक सामग्री न मिलने से अनेक रोगो के शिकार बनते है। या अकाल मृत्यु को वर लेते है। इस प्रकार अन्नाभाव से कई प्राणी असमय मे मरते हैं तो दूसरी तरफ अधिक खाने से रोग-ग्रस्त होकर मरते है। इस प्रकार अन्न की समस्या उलझती है। स्वाद लोलुपता के कारण चटपटे-स्वादिष्ट चाट-पकौडी, नमकीन वगैरह मे भी काफी खाद्य पदार्थों का अपव्यय होता है। अपव्यय इसलिए कि ये सिर्फ रसनेन्द्रिय के लोभ की पूर्ति हेतु होते है—जीवनदायक नही, ऐसे पदार्थों मे कई तरह की मिलावट होती है जिससे मानवीय जीवन को विनष्ट करने मे सहायता मिलती है। दूसरो तरफ खाद्य पदार्थो की कमी के शोरगुल से मच्छी उद्योग, कत्ल खाने, मुर्गी उद्योगादि महापाप के कार्य चालू किये जाते है। ऐसे तत्त्वो को खिलाने की प्रेरणा दी जाती है, जिनसे मानव जीवन का एव आत्मा का हनन होता है।

महापाप जनक पदार्थों को उपयोग मे लेने वाले अपनी आत्मा को अत्यधिक मलिन बनाते है और दुर्गति के पथ के पथिक बनते है। मास, मच्छी, अडे मानवीय प्रकृति के अनुकूल न होने से वे खाने वाले के शरीर मे अनेकानेक भयकर एव दु साध्य रोगो को उत्पन्न करते हैं और फिर रुपयो को पानी की भाति बहाने पर भी उन रोगो से मुक्ति नही मिलने से असमय मे ही मृत्यु के शिकार हो जाते है। इस प्रकार यह रसनेन्द्रिय लोभ सबधी भयावह बीमारी अन्दर ही अन्दर जीवन को निस्सार बना रही है, आत्मा को अधोगति की ओर आकर्षित कर विश्व के अधिकाश प्राणी इस महामारी रोग से आक्रान्त है। अज्ञ प्राणी तो इससे उत्पन्न अनर्थ को समझने मे भी अक्षम रहते है तो इसके समीक्षण का तो प्रसग ही नही रहता, किन्तु जिन प्रबुद्ध मानवो ने इसको जानने का प्रयास किया, उनकी जानकारी भी मस्तिष्क तक ही सीमित रही, आचरण मे नही हो पायी। आध्यात्मिक साधको ने आचरण मे लाने का कुछ प्रयास किया, पर उनमे से भी न्यूनाधिक मात्रा मे सफलता किन्ही को ही मिली, किन्ही को नही भी मिली। किंतु आत्मविकास की आन्तरिक सही ललक जिनमे पैदा हो गयी, वे यदि समीक्षण ध्यान के माध्यम से इस रसनेन्द्रिय सबधी लोभ का आचाराग सूत्र मे निर्दिष्ट प्रभु महावीर के सकेतानुसार देखने का सतत प्रयत्न दृढ सकल्प के साथ धैर्यपूर्वक चालू करे तो वे एक न एक दिन सफलता अवश्य प्राप्त कर सकेंगे। अत समीक्षण ध्यानी साधको को इस विषय मे अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता है।

मानव को मानव-तन मे रहते मानवीय जीवन का किञ्चित्मात्र भी दुरुपयोग नही करना चाहिए बल्कि सदुपयोग मे विनिमय करने का लक्ष्य रखना चाहिए। वह सद्विनिमय तभी बन पायेगा जबकि मौलिक शुद्ध स्वरूप और विकृत स्वरूप का सम्यक् विज्ञान प्राप्त कर लिया जाए। इस ज्ञान के लिए विकारानुरंजित ज्ञान को साफ स्वच्छ बनाने की आवश्यकता है। उस विकृत ज्ञान को विकृत ज्ञान के रूप मे पहचानना एव उसको उस रग से रहित करना है। यह सम्यग् दृष्टि भाव की भूमिका पर ही सभावित है। यह भाव तभी जागृत हो सकता है जबकि भेद-विज्ञान सम्यक् रीत्या प्राप्त हो जाय। इस ज्ञान मे मुख्य बाधक मिथ्यात्व मोहनीय कर्म है।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का जब तक उदय रहता है तब तक पर पदार्थ पर ही अन्तिम दृष्टि लगी रहती है। शरीर और शरीर सम्बन्धी सुख के लोभ से अभिभूत बनी आत्मा शरीर को ही सब कुछ मानती है। शरीर मे रहने वाले चैतन्य देव की ओर उसकी दृष्टि नही जाती। क्योकि वह अपने आपको महत्त्व न देकर स्वय के द्वारा निर्मित शरीर एव तत्सबधी सुख की लालसा को ही महत्त्व देता है। स्पर्शेन्द्रिय-सुख सबधी लोभ मे इतना निमग्न हो जाता है कि शरीर से सबधित पदार्थों को प्राप्त करने के लिए रात और दिन एक कर डालता है। समझ पडने के पश्चात् लौकिक दृष्टि का एव भौतिक विज्ञान सबधी अध्ययन का भी उसी लोभ की सपूर्ति के लिए उपयोग करता है। तदनन्तर भव्य भवन उसकी सजावट तथा शरीर के प्रसाधन की सामग्री सग्रहीत करने लगता है। अन्य इन्द्रियो के व्यापारो को भी इसलिए तेज करता है कि स्पर्शेन्द्रिय सम्बन्धी लोभ की पुष्टि हो जाय।

जब उसे लगता है कि अमुक व्यक्ति या पदार्थ स्पर्शेन्द्रिय सम्बन्धी लोभ की सपूर्ति मे सहायक बनेगा तो वह उन व्यक्तियो एव पदार्थो के लिए तिलमिला उठता है। यदि वे सहज रूप से प्राप्त न हो सकते हो तो अन्य तौर-तरीको को उन्हे अपनाता है। वे तरीके भी अपर्याप्त ज्ञात होने लगते है तब षड्यन्त्र रचता है। जिस अन्य पुरुष के अधीन उन व्यक्ति एव साधन को समझता है। शक्ति बटोर कर उन पर आक्रमण करता है। अपनी शक्ति को उस ओर नियोजित कर देता है। यदि उनसे अभीष्ट वस्तु प्राप्त न हो पायी तो हाथ मसोस कर रह जाता है अथवा येन केन प्रकारेण अपने जीवन की समर्पणा कर देता है। यह तो एक सामान्य व्यक्ति की बात हुई। कभी कभी बडे बडे सम्राट् भी इस लोभ का सवरण नही कर पाते है। यदि उनको लगता है कि लोभ सबधी अभीष्ट पदार्थ अमुक सम्राट् के पास है तो उसको प्राप्त करने के लिए [illegible] मे अपार राजकीय शक्ति को जनता के हित मे न लगाकर व्यक्तिगत इन्द्रिय लोभ की पूर्ति के लिए लगाते है। उसकी प्राप्ति मे मानव तत्व को

समाप्त तक कर देते हैं फिर भी उस लोभ की अतृप्तावस्था मे ही दुर्गति के मेहमान बनते है।

कई उसे प्राप्त करने के लिए जनता की शक्ति का दुरुपयोग करने के साथ-साथ धर्म का भी दुरुपयोग करते है। जनपद मे अशाति का वातावरण तैयार कर देते है। ऐसे पुरुष सत्ता और सम्पत्ति से तो हाथ धोते ही है, इस लोक और परलोक मे भी घृणा के पात्र बनते हैं। इस तथ्य को इतिहास के पृष्ठो से भलीभाति जाना जा सकता है। एतद्विषयक लोभ पशु जगत् को भी नही छोडता। वन मे स्वतत्र विचरण करने वाला गजराज, जो सहसा किसी के भी नियत्रण मे नही आता बल्कि अनेक हथिनियो को नियत्रण मे रखता है, स्वय स्पर्शेन्द्रिय सम्बन्धी लोभ के चक्कर मे इतना बेमान हो जाता है कि स्वय का हिताहित एव भयकर परतत्रता की अवस्था को भी नही सोच पाता। परिणामस्वरूप कई दिनो तक भूखप्यास की वेदना को सहन करता हुआ अपनी परिपूर्ण स्वतन्त्रता से वचित होता हुआ हथिनी परिवार से भी सदा-सदा के लिए विलग हो जाता है। इसी प्रकार स्पर्शेन्द्रिय के लोभ से अन्य सासारिक प्राणी प्राय: वच नही पाते है, भले ही इसका नाम सज्ञादि के रूप मे कुछ भी हो। इस जगत् के प्राणी तो दूर, स्वर्ग लोक मे रहने वाले कई देवगण भी इस लोभ के पीछे अपने देवत्व की ऋद्धि, गरिमामय पद तथा विशाल शक्ति को भी विस्मृत कर दीन हीन भाव मे अपने को प्रदर्शित करने लगते है। जिससे सस्पर्श रूप लोभ की प्राप्ति होने की आशा रहती है, उसके चरणो से सर्वोत्कृष्ट सम्मान के योग्य मुकुट को प्रताडना भी उनमे चेतना पैदा नही कर सकती। इतनी चित्त शून्यता देव मानस-तन्त्र मे व्याप्त हो जाती है।

लोभ एक दृष्टि से ऐसा क्लोरोफार्म है कि जिसके प्रभाव से सारी विवेकशील चैतन्य शून्य सी वन जाती है। जब तक इसका प्रवल असर रहता है तब तक क्या कुछ हुआ ? कितनी क्षति हुई ? शारीरिक एव वौद्धिक ऊर्जा का कितना घात हुआ ? कुछ भी ज्ञात नही हो पाता। समय पाकर इसका प्रबल असर कम होता है। तब यत्किचित् विवेक जागृत वनता है। फिर प्राणी अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करने लगता है। अपने आप मे वहुत खिन्नता अनुभव करने लगता है। कभी कभी अन्त तल की गहराई मे वेदना की कसक सी अनुभव करने लगता है। फिर भी इसके कुप्रभाव को समझने का प्रयास नही करता। हो भी कैसे, वह लोभ वहुत गहरा स्थान रखता है। उसका प्रभाव न्यूनाधिक रूप मे समग्र मानसतन्त्र को प्रभावित करता रहता है। मानसतन्त्र से सम्वन्ध सवद्ध ग्रन्थियो पर भी इसका प्रभाव होता है। परिणामस्वरूप ग्रन्थियो से स्रवित होने वाला रस भी अछूता नही रहता। वह रस जहाँ जिस तत्त्व मे सवधित होता है। वे सभी तत्त्व जीवन के अग-प्रत्यगो मे रहे हुए है।

वे अंग-प्रत्यंग जिस किसी भी कार्य मे प्रवृत्त होगे। उनका प्रमुख उद्देश्य लोभमय ही रहेगा।

लोभ जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियो मे किसी न किसी रूप मे प्रकट हुए बिना नही रहता। यह एक ऐसा चक्कर है जिसे खोज पाना असंभव नही तो दुःशक्य अवश्य है। यही कारण है कि बडे-बडे साधक भी ज्ञाताज्ञात रूप से इससे अछूते नही रह पाते है। ऐसी स्थिति मे अभ्यासशील सामान्य साधको का तो कहना ही क्या? जब साधको को भी लोभ विषयक परिस्थिति न्यूनाधिक रूप मे घेरे रहती है, वे भी प्रायः उसका अवलोकन नही कर पाते, तो अन्य प्राणी और मनुष्य तो अवलोकन करने का सोच ही कैसे सकते है? इसीलिए प्राणी वर्ग लोभ की सम्पूर्ति के लिए विभिन्न प्रवृत्तियाँ करता रहता है। अतएव समता जीवन की साधना करने वाले साधक को चाहिए कि वह इस लोभ का समीक्षण करे, सोचे कि यह लोभ मेरी आत्मा को अधःपतन की ओर ले जाने वाला है। इसके कारण ही यह चैतन्य देव अनादि काल से इस संसार-अटवी मे परिभ्रमण कर रहा है। भव-भ्रमण को चक्की से उबर नही पाता। रात और दिन दुःख द्वन्द्व मे पिसता रहा है। कई बार मानव-तन भी पाया किंतु इस तथ्य का समीक्षण नही बन पाया है। दुर्लभ मनुष्य जीवन को पाकर के भी इस तुच्छ जहरीले कीडे के पीछे इतने महत्त्वपूर्ण मानवीय जीवन को विनष्ट कर डाला। ऐसी कई जिन्दगिया प्राप्त की जा चुकी है जिनमे धन का अम्बार लगा दिया, विशाल परिवार भी पाया। अनेक स्त्रियो के साथ प्रणय के बन्धन मे भी बँधा। बालबच्चे भी हुए, पोते पडपोते आदि से भी मनोविनोद किये। फिर भी संतुष्टि नही हो पायी। इतना ही नही, कई राजा महाराजाओ, सम्राटो का जीवन भी पाया। मान सम्मान भी प्राप्त हुआ। लेकिन आन्तरिक तुष्टि नही हो पायी। यहा तक कि चक्रवर्ती सम्राट् का पद, लौकिक दृष्टि से मानवीय जीवन का सर्वोच्च पद भी कई आत्माओ ने पाया। उनमे से कुछ चैतन्य देव उसका अन्तिम समय तक उपयोग करते रहे, लेकिन अन्त मे असंतुष्टि, अशान्ति और अत्यन्त दुःख की दयनीय अवस्था के साथ सातवे नरक की भयंकर वेदना मे जन्म लेना पडा। अलबत्ता जिस चैतन्य देव ने संसार के सर्वोच्च चक्रवर्ती का पद पाकर भी, तुच्छ लोभ को समीक्षण करके पहचाना और इसके परिकर तथा चक्रवर्ती पद का सर्वपरित्याग कर साधना-जीवन के उत्कृष्ट स्वरूप साधु जीवन को स्वीकार किया, अन्तर् मे छिपे हुए लोभ का समीक्षण करना प्रारम्भ किया, वे अन्ततोगत्वा संसार के भवो का परिमित अथवा क्षय करके सदा सदा के लिए परम सुख एवं शान्ति के स्वामी बन गए। चक्रवर्ती की तुलना मे अन्य मनुष्यो के पास न तो मोह जनक इतना परिग्रह है और न वैसा पद ही। ऐसी परिस्थिति मे साधारण से रहता हुआ लेकिन पुरुष जागृत हो जाए तो परिपूर्ण साधना के साथ साथ समीक्षण ध्यान के माध्यम से लोभ का समीक्षण कर सकता है। सुज्ञजन ने स्वेच्छा से लिया है।

वर्तमान मे अनेको साधक कर रहे है और भविष्यत्काल मे अनेको साधक करेंगे ।

हाँ, इस साधना मे सलग्न होने वाले साधक को अतीव सावधानी बरतने की आवश्यकता है । क्योकि यह रोग एक दृष्टि से सक्रामक है । जिस किसी के भी सम्पर्क मे आने का प्रसग आता है वह यदि इस लोभ की बीमारी से ग्रस्त है तो सम्पर्क मे आने वाले को भी यह रोग घेर लेता है । अतएव इस रोग से निवृत्ति लेने वाले साधक को अपना मानसिक स्वास्थ्य इतना स्वस्थ व सक्षम बना लेना चाहिए कि जिससे इस सक्रामक व्याधि का कोई प्रभाव उस पर न हो सके । साथ ही अन्त करण का समीक्षण भाव से अवलोकन करते रहना चाहिये । किसी भी मानसिक तत्र पर इसका असर ज्ञात हो तो तत्क्षरण उसका परिमार्जन कर लेना उचित रहता है । जिन धुरन्धर विद्वान् साधको ने समीक्षण ध्यान की साधना मे स्वय को गतिशील बनाया और उन्हे लगा कि इस लोभ रूपी व्याधि का निवारण (इलाज) हो चुका है, किन्तु गम्भीरतर अनुभूति नही की वे इस विषय मे निश्चिन्त बन गये । परिणाम यह हुआ कि वह वाह्य रूप मे उपशान्त सा प्रतीत हुआ रोग पुन. उभर कर सामने आ गया । तब साधक को ज्ञात होता है कि रोग निवृत्ति की मुझे भ्रान्ति हुयी, वस्तुतः रोग का समूल उन्मूलन नही हुआ । परिणाम यह हुआ कि वह पुन आवेग के साथ उभर आया । उस समय साधक ने यदि सावधानी पूर्वक, जागृति के साथ, समीक्षण करना प्रारम्भ किया तो वह सफलीभूत हुआ । यथा–प्रसन्न चन्द्र रथनेमि, अरणकादि ।

साधारण साधना मे चलने वाले साधक भी सावधानी पूर्वक समीक्षण-ध्यान की साधना मे यथाशक्ति जागृत रहे तो अजागृत बडे-बडे धुरन्धर साधको से भी अधिक सफलीभूत हो सकते है । गृहस्थाश्रम मे रहने वाले वीतराग देव पर प्रगाढ आस्था रखकर बारह व्रत अगीकार करके चलते है । वे भी अपने स्थान पर यथाशक्ति समीक्षण ध्यान की धारा का अभ्यास करे । उस अभ्या-सावस्था मे कदाचित् इस व्याधि को उद्दीप्त करने वाले शक्तिशाली निमित्त भी सामने उपस्थित हो जाय, फिर भी वे विचलित नही होते । यथा–सेठ सुदर्शन, चन्दनवाला, महारानी धारिणी आदि । अतएव साधक को, वह चाहे साधु जीवन का हो, साध्वी जीवन का हो या श्रावक पर्याय मे हो, अथवा श्राविका के रूप मे हो, विपुल साधन सम्पन्न हो अथवा साधनो मे विपन्न हो, शारीरिक दृष्टि मे बलवान् हो या निर्बल हो, तरुण, प्रौढ या वृद्ध हो, किसी भी अवस्था मे क्यो न हो, पर जो मानसिक अवस्था से सम्पन्न है, वह साधक अभ्यास के सहारे समीक्षणध्यान मे प्रगति करता हुआ एक न एक दिन इस रोग का समीक्षण कर इसे निर्मल करके आगे बढ सकता है । आवश्यकता है आन्तरिक तीव्र सकल्प एव अदम्य उत्साह की ।

भू-लोभ

पृथ्वी किसी की हुई नही और होगी भी नही, किंतु चैतन्य देव जब शरीर-पर्याय को धारण करता है तब शरीर को स्थान देने के लिए उसको जगह चाहिए। इस चाह को अनुचित नही कहा जा सकता। परन्तु अज्ञानवश आवश्यकता से अधिक मही भाग का लोभ करना, उसके लिए अन्य आवश्यकता मद पुरुषो की जमीन को हडपना, उसके लिए झगडना, मुकदमेबाजी करना, स्वय परेशान होना और अन्य को परेशान करना, धार्मिक भाव तो दूर रहा, मानवता को भी तिलांजलि देना है। राक्षसी भाव के रूप मे मानव जीवन को प्रकट करना कतई वाछनीय नही है।

कभी-कभी तो भूमि विषयक लोभ की मात्रा इतनी अधिक बढ जाती है कि पडौसी के साथ खून खच्चर भी हो जाता है। पडौसी तो दूर लोग स्वय के सहोदर भाई, माता पितादि से भी चूकते नही। साधारण व्यक्ति तो क्या अच्छे अच्छे नेता, तथाकथित जन सेवक, जनहित का उद्घोष करने वाले महानुभाव भी इस लोभ को स्वाधीन नही कर पाते। उनकी दृष्टि मे जनहित लोभ पोषण का औजार मात्र रह जाता है। आन्तरिक लोभ की तीव्रता उन्हे जन शोषण के लिए बाध्य कर देती है। इसी के परिणामस्वरूप बडे बडे देशो के शासक युद्ध लडते हैं।

विश्वयुद्ध के ताडव नृत्य भी हुए, जो शास्त्र, पुराण एव इतिहास के पृष्ठो से जाने जा सकते हैं। एक फुट भू-भाग के लिए भतीजा अपने चाचा की दाढी पकड मारने को तत्पर हुआ। ऐसे एक नही अनेक रूपक कर्ण परपरा एव प्रत्यक्ष मे भी देखे-जाने जा सकते है। यह एक ऐसी अपूरणीय लालसा है कि जिसकी पूर्णाहुति अज्ञानियो के लिए सभव नही। अतएव ज्ञानी जनो को चाहिए कि अपने सम्यकज्ञान के बल के आधार पर अन्त करण पूर्वक उसे रूपान्तरित करे या समाप्त करे। चिन्तन करे कि यह पृथ्वी मैने पैदा नही की है। यह नैसर्गिक है। इस पर मै आसक्ति लाता हूँ, इसका अपने को स्वामी घोषित करता हूँ, इसमे मूर्च्छित बनता हूँ तो इसका तो कुछ भी नही बिगडेगा, मेरा ही अहित होगा। मै ऐसा करके अपने आप को बन्धन मे डालता हूँ। आत्मा को कीचड से भरता हूँ। इसका दुष्परिणाम जमीन नही भोगेगी, मै ही भोगूगा। क्यो मै व्यर्थ लोभ मे फसू? यह अनर्थ दण्ड है, जो कि मेरे लिए सर्वथा त्याज्य है। आवश्यकतानुसार जितनी भूमि मै रखता हूँ उस पर भी मेरी लोभ मूलक आसक्ति न रहे। जिस प्रकार जाने से जमीन पर बैठता हूँ, लेटता हूँ किन्तु उस पर आसक्ति नही लाता हूँ, वैसी ही मन स्थिति इस पर भी रहे। यदि मै समीक्षण भाव से चिन्तन करूँ तो आत्म-स्वरूप के अतिरिक्त मेरा निजी कुछ भी नही है। अन्य सभी पर-भाव है। पर-भाव मे आवश्यकता-

नुसार उपयोग लिया जा सकता है किन्तु उसका लोभ नही किया जा सकता। यहा लोभ भी सिर्फ सयोगादि अवस्था के अर्थ मे ले सकता हूँ। ये सयोग सदा मेरे ही रहे, इस अर्थ मे नही। इस प्रकार चिन्तन के क्षणो मे समता भाव की वृद्धि करना और समीक्षण ध्यान की धारा मे डुबकी लगाना अपने आपको आगे बढाना है। इस तथ्य का अन्यो को भी बोध कराऊ, यह मेरा कर्तव्य बने। इस कर्तव्य का यथाशक्ति पालन करता हुआ समभाव की सीमा मे रहूँ। समीक्षण दृष्टि का महत्त्व यथास्थान और यथासमय प्रतिपादित करता रहूँ, यही ज्ञान का सार है।

भवन

मानव तनधारी प्राणी अपने एव परिवार के निवास के लिए मकान बनवाता है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, क्योकि बुद्धि का धनी मानव गर्मी, सर्दी, वर्षादि से बचने और शान्ति से रहने के लिए वह अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है। यथाशक्ति अच्छे से अच्छे मकान बनाने की कोशिश करता है। इसे सासारिक दृष्टि से अनुचित तो नही कहा जा सकता। परन्तु उसके साथ आसक्ति रखना हितकर नही होता। आसक्ति होने से आवश्यकता के उपरात भी मकान बनवाना व अन्य के मकान पर कब्जा करना स्वय व अन्य प्राणधारी मानवो के लिए अहितकर है। क्योकि लम्बी सासारिक यात्रा मे मकानादि रहने के लिए अल्पकालिक विश्राम-स्थान है। वह सदा काल के लिए नही। जब तक आयुष्य है तब तक के लिए ही है। इस बात को विस्मृत कर मानव यह सोचने लगता है कि यह मेरा मकान है। यह खण्डहर न बन जाय, इसमे मै सदा रहूँगा। उस मकान के किसी ने पत्थर मार दिया तो उसे कुछ का कुछ बोलेगा। अपने जीवन को क्षति पहुँचा सकता है मगर मकान को कोई क्षति न पहुँचे, यह ध्यान सदा बना रहता है। कभी कभी शरीर के लोभ से मकान का लोभ इतनी प्रगाढता लिये रहता है कि जिससे शरीर पोषक अन्न का कवल हाथ मे लिया, मुँह मे रखने को तैयार हुआ कि मकान का अमुक हिस्सा लुभावना बने, इस विषय मे यदि कोई चर्चा करने आवे तो कवल को मुँह मे रख या यथास्थान रख उठ खडा होता है।

सागर दत्त सेठ अपना बँगला बनवा रहा था, जबकि पर्याप्त आवश्यकतानुरूप बगले थे। फिर भी आधुनिक युग के, भव्य फैशनेबुल झरोखे वाले बगले बनवाने का लोभ सवरण नही होने से अच्छे अच्छे कलाविद् कारीगरो को बुलाया, बगला तैयार होकर झरोखो के समीप पहुँच गया। झरोखे का नक्शा जो सेठ ने बताया था वह स्मृति मे नही रहा, इसलिए कारीगर ने सोचा कि सेठ साहब भोजन हेतु आये हुए है। मै उन्ही से पूछकर अपनी स्मृति ताजा कर लू। ऐसा विचार करके वह सेठ के पास पहुँचा। उस वक्त सेठ साहब

भोजन करने बैठे थे। नवाला मुह मे रखने वाले ही थे कि कारीगर जा पहुँचा। कहा सेठ साहब! झरोखे सम्बन्धी कुछ स्मृति विलुप्त सी बन गयी है जितनी स्मृति रही उतनी मैंने कारीगरी कर दी। अवशेष पुन बताने की कृपा करें ताकि आपकी इच्छानुसार झरोखा बन सके।

सेठ साहब भोजन से उठ स्वय झरोखे को देखने चल पडे। झरोखे के निचले भाग मे खडे रहकर बता रहे थे। ऊपर कारीगर काम कर रहे थे, एक कारीगर के हाथ से हथौडा छूटा और सेठ साहब के सिर पर गिरा। सिर फूटने के साथ ही सेठ साहब सदा के लिए इस ससार से चल बसे। इस प्रकार वे झरोखे सबधी लोभ का उपयोग भी नही कर सके और परलोक की यात्रा के लिए प्रयाण कर गये।

इस प्रकार मकान सबधी लोभ मे भोजन वगैरह सब छूट गया। ऐसी मकान सम्बन्धी परिस्थितिया अनेक उपस्थित हो सकती है। अतएव सुज्ञ पुरुष को मनन करना चाहिए कि मकान के साथ आसक्ति पूर्ण लगाव न रखते हुए उसे धर्मशाला की तरह समझे, जिससे ध्यान-साधना मे मकान बाधक न बन सके। समीक्षण-ध्यान की प्रक्रिया अधिक से अधिक बढाते हुए इस प्रकार के लोभ का भी समीक्षण बन सके और उसके निवारण का भी उपाय किया जा सके।

हिरण्य-सुवर्ण

मानव जब कभी अति दारुण विकृत दशा मे पहुँच जाता है, तब उसका लक्ष्य भी उसके अनुकूल बन जाया करता है। उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए हर तरह से सग्रह की वृत्ति बनाता है। ग्रहण करने योग्य पदार्थों मे जब उसको ज्ञात होता है कि स्वर्ण और रजत आदि अधिक मूल्यवान् पदार्थ है, तब वह उनमे तथा इसी प्रकार के मूल्यवान् धातुमय अन्य पदार्थों मे आसक्त बन जाता है। उनकी प्राप्ति के लिए जी जान से प्रयत्न करता है। जीवन को खतरे मे डाल करके भी उन्हे उपलब्ध करना चाहता है।

स्थान भयानक है, खतरनाक है। रास्ता कटकाकीर्ण है। खड्डे, ककर पत्थर आदि बहुत है। आगे जाने पर शेर, चीते भेडिये आदि प्राण घातक जानवर भी है। चोर लुटेरे भी लूटपाट करते रहते है। ऐसे स्थान पर मध्याह्न की कड-कडाती धूप मे यदि कोई अपने प्राणो को हथेली पर रख कर जाए तो कदाचित् बहुत हिरण्यादि कीमती धातु मिल सकती है। किन्तु सब खतरो से बच जाय तब न।

हिरण्यादिक पदार्थो का लोलुपी व्यक्ति जीवनादि सभी को गौण कर वहा पहुँच सकता है। वह यह नही सोचता कि ये धातु पदार्थ जीवन के समाप्त होने पर क्या काम आयेंगे। भावी सतति भी दुर्गुणी निकली तो इनको खो बैठेगी। मैं भी इन्ही पदार्थों मे ध्यान रखता हुआ मृत्यु के मुह मे पहुँच गया तो मानव-जन्म को हार कर इन्ही पदार्थों मे कही एकेन्द्रिय रूप मे उत्पन्न हो गया तो बहुत पुण्य के सचय से प्राप्त हुए मानव तन को बर्बाद करके न जाने कितने समय तक एकेन्द्रियादि पर्यायों मे भटकता रहूँगा। कभी निगोद मे चला गया तो अनन्त काल तक भी वहा से निकलना अतिदुष्कर बन जायेगा। किन्तु लोभान्धता के कारण इस प्रकार के चिन्तन की स्फुरणा भी नही उठती। उसी धुन मे यदि किसी को ज्ञात हो जाय कि अमुक स्थान पर चोरी करने या डाका डालने से हिरण्यादिक पदार्थ प्राप्त हो सकते है तो इस प्रकार का निद्य कार्य करने मे भी वह पीछे नही रहता।

स्वर्ण-हिरण्य के लोभ मे अन्धा मनुष्य, महारभ और महापाप का धधा भी अपनाने का प्रसग उपस्थित हो, तो वैसा करके अपने आप को दुर्गति का मेहमान भी बना लेता है तो इसमे आश्चर्य जैसी कोई बात नही है। इस नशे की ऐसी मूर्च्छा होती है कि जिससे हिताहित की कोई बात न सोच पाता है, न देख पाता है, न सुन ही सकता है। उसे कितना ही उपदेश क्यो न दिया जाय, कितनी ही सत्सगति करवायी जाय तो भी ऐसे पुरुष पर असर नही होता। मुद्गशैल पत्थर पर भयकर से भयकर वृष्टि क्यो न हो, उसमे पानी का एक कण भी प्रवेश नही कर सकता, वह ज्यो का त्यो ही रहता है। वैसे ही सत्सग एव सदुपदेश का असर अतिलोभाविष्ट व्यक्ति पर नही होता है। वह लोभ के पीछे इतना अधा वन जाता है कि स्वय के सहोदर भाइयो को भी नही बख्शता है। माता-पिता के पास भी रहने वाले हिरण्यादि को पाने के लिए उनको कष्ट देने मे भी नही हिचकता। इतनी निर्दयता उसमे आ जाती है कि उनको समाप्त करने मे भी कसर नही रखता। वह समझता है कि धन-धान्य द्विपद चौपद कुप्य धातु आदि इसी हिरण्य सुवर्ण के द्वारा स्थायी रूप से प्राप्त किये जा सकते है। इसी ममता शक्ति से आन्तरिक वासना के अनुरूप पदार्थों को देखता है तो खूब हँसता है। उसी हास्य के अन्तर्गत उसकी अन्तरग की वृत्ति उस वस्तु के प्रति अप्रशस्त राग वाली बनती है। जिसे रति की सज्ञा प्रदान की जा

जाती है। यह हास्य की वृत्ति रति के साथ घनिष्ठ सबंध रखने वाली है। अत यह भी आन्तरिक परिग्रह के रूप मे मानी गयी है।

लोभावस्था अति घनी भूत होती है। इसमे गुप्त प्राणी बाह्य परिग्रह के साथ साथ आभ्यन्तर परिग्रह से भी जकड़ा हुआ होता है, क्योंकि बाह्य परिग्रह का मूल आभ्यन्तर परिग्रह मे रहता है।

चैतन्य देव जब तक अन्तर की अनुपम छवि को नही देख पाता, तब तक अनादि काल से बाह्य छवियो को ही देखने का अभ्यासी रहने से उनके प्रति रति-यानि आसक्ति धारण करता है। प्रतिकूल अर्थात् छविहीन वस्तु पर अरति-द्वेष भाव रखता है। अतएव दोनो प्रकार की अप्रशस्त वृत्तियो से सम्पन्न होकर उन्हे अन्तर मे सचित करता है। इसी प्रकार की अन्यान्य वस्तुओ को देख दोनो सचित वृत्तियो के कारण राग या द्वेष करता रहता है। इसलिए शास्त्रकारो ने इन दोनो प्रकार की वृत्तियो को आभ्यन्तर परिग्रह के रूप मे स्वीकारा है।

जब रति की वृत्ति ने बाह्य पदार्थो को सगृहीत कर लिया होता है, तब उन पदार्थो के चले जाने या अन्य के द्वारा अपहरण करने का भय भी बना ही रहता है। परिणामस्वरूप मन का चाचल्य एव आत्म प्रदेशो का विशेष प्रकम्पन होता है। शरीर सबन्धी मास पेशियाँ भय भ्रान्त बनी रहती है। बात बात मे शका कुशका एव व्यर्थ की कल्पनाएँ उठती रहती है, मैं कही जाऊँ और पीछे से कोई लूट ले। परिवार वाले इधर-उधर कर दे अथवा मेरे शरीर को क्षत-विक्षत कर कुए मे डाल दे या मुझे विष देकर समाप्त कर दे, इत्यादि कल्पनाओ का ताना बाना वह बुनता ही रहता है, जिससे न चित्त स्थिर रह पाता है न ही कोई व्यवस्थित कार्य ही कर पाता है। न मन की एकाग्रता अच्छे कार्यो मे साध सकता है, और न शरीर निर्वाहार्थ भोजन ही शान्ति से कर पाता है न सुख की निद्रा ले पाता है। किन्तु अव्यवस्थित जीवन जीता हुआ समय व्यतीत करता है। जब सगृहीत वस्तुओ का अपहरण हो जाता है, वे कही लुप्त हो जाती है, तथा विनाश को प्राप्त होती है, तब शोकाकुल बनाने वाली वृत्ति आन्तरिक जीवन को घेर लेती है और मानस-तन्त्र एव मास-पेशिया शिथिल हो जाती है। गत वस्तु एव अनुपलब्ध वस्तु की चिन्ता मे इतना निमग्न हो जाता है कि जिससे क्षुधा पिपासा भी गायब हो जाती है। कभी कभी सोपक्रमीय आयुष्य पर करारी चोट होने से दीर्घ काल तक भोगने योग्य आयुष्य को शीघ्र ही भोग कर समाप्त कर देता है। कदाचित् तत्क्षण आयु समाप्त न भी हुई तो भी शारीरिक मानसिक अनेक रोगो से ग्रस्त होता हुआ असाता दयनीय [illegible] है। परिणामस्वरूप उसे अपने जीवन से प्राय पल पल मे भी घृणा होने लगती है। यह भी एक आन्तरिक वृत्ति भय और शोक के साथ प्राय चलती रहती है।

जब कभी कोई नारी, पुरुषवेदप्रधान जाति को देखती है तब उसके अन्त करण मे उसके रूप लावण्यादि को लेकर स्त्रीवेद के योग्य भावो का उद्भव होता है। ज्यो-ज्यो उसमे आसक्ति बढती है त्यो-त्यो उन भावो मे वृद्धि होती रहती है। यह स्त्रीवेद की परिणति चैतन्य देव ने अनादि काल से ग्रहण कर रखी है। वैसे ही स्त्रीवेदप्रधान नारी जाति को पुरुषवर्ग आसक्ति पूर्वक अवलोकित करता है, तब पुरुषवर्ग के अन्तरग मे पुरुषवेद उदीप्त बनता है। इस वेद को भी चैतन्य देव ने अनादिकाल से पकड रखा है।

मानव जाति मे कुछ ऐसे भी सभ्य होते है जो स्त्री और पुरुष दोनो को आसक्ति पूर्वक देखते है। उनमे नपुसकवेद का उदय प्रधानतया होता है। ये तीनो वेद आत्मा को बेभान बनाये हुए हैं। ये सभी ऊपर से निज रूप मे दृष्टिगत नही होते है किन्तु इनकी परिणति शारीरिक अवयवो मे होने लगती है। तब अनुमान से इनको जाना जा सकता है।

आत्मा को स्व-स्वरूप से विचलित करने वाली ये वृत्तियाँ आन्तरिक परिग्रह की सज्ञा पाती है। जब अभीष्ट वेद से सबधित वस्तु को उपलब्धि हो जाती है तब आत्मा लोभ की आशिक पूर्ति को देखकर उस विषय मे अधिक तृष्णावान बनती है और वह चाहती है कि इस वासना की पूर्ति हेतु अन्य भी साधन सामग्री सग्रहीत करूँ। उन साधनो मे जब अडचने पैदा होती है तब वह पुरुष गूढ माया करने लगता है। बाधक तत्त्वो को मायाजाल-छल कपट से हटाना चाहता है। सयोगवश इस विषय मे वह सफल हो जाता है तब अपने आप मे फूला नही समाता। कदाचित् अडचन-विघ्न बाधा दूर नही होती है तो क्रोध रूपी शस्त्र को लेकर क्रूर वृत्ति के साथ चल पडता है और कभी-कभी तो इतना क्रूर बन जाता है कि जिससे अत्यन्त प्रिय व्यक्ति का भी खून कर नरक का वासी वन जाता है। फिर भी तृप्ति नही हो पाती। इसीलिए वीतराग प्रभु ने स्पष्ट उद्घोष किया है कि "सल्ल कामा विस कामा-कामा आसीविसोवमा" इस सबध मे भागीरथ का उदाहरण आगमो मे निबद्ध है।

तीव्रतम कपाय अनतानुवधी कषाय हुआ करता है। इन चार अनन्तानुवधी कपायो को ग्रहण करने से अन्य कषाय भी सग्रहीत हो जाते है। अतएव कपायचतुष्क को भी आन्तरिक आभ्यन्तर परिग्रह मे परिगणित किया गया है।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्मोदय से आत्मा न जाने कितने-कितने अनर्थ कर वैठती है। इस कर्म के उदय से जीव को अजीव, अजीव को जीव, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानना आदि सभी प्रकार के मिथ्याचार व्यवहार का प्रावल्य प्राणी मे रहता है। यह मिथ्यात्व भी अनादिकालीन ससार-परिभ्रमण मे इस चैतन्य देव ने पकड रखा है। एक दृष्टि से देखा जाय तो यही वाह्य

एवं आभ्यन्तर समस्त परिग्रहों का मूल है। यों भेद-प्रभेदों की दृष्टि से नव नो कषाय एवं चार कषाय और मिथ्यात्व लेकर चौदह भेद आभ्यन्तर परिग्रह में गिनाए गये हैं। ये सभी प्रकार के परिग्रह लोभ के अवान्तर भेदों में से हैं।

लोभ जीवन का बहुत बड़ा घुन है। आत्मा को अधोमुखी बनाने वाला एवं बलशाली अदृश्य शत्रु है। एक दृष्टि से चिन्तन किया जाय तो परिग्रह को समस्त संसार के पापों का बीज कहा जा सकता है। यह अपना प्रभाव समग्र विश्व के प्राणियों पर न्यूनाधिक रूप से रखता है। जिस दिन इसकी समस्त जड़ें सर्वथा समाप्त होगी, उसी दिन आत्मा अन्तर्मुहूर्त में सर्वज्ञ सर्वदर्शी आदि शक्तियों से सम्पन्न होगी। इस अवस्था को उपलब्ध करने के लिए सम्यग्दृष्टि आत्माएं सत्पुरुषार्थ में तन्मय रहती हैं।

सम्यग्दृष्टि आत्मा को इस प्रकार का विज्ञान तीर्थङ्कर देवों के उपदेश से ही वर्तमान काल में, इस क्षेत्र में प्राप्त हो सकता है। इसीलिए इस काल में आर्यकुल मानव तन आदि को उपलब्ध करने वाली प्रज्ञावान् आत्मा को बहुत गहनता से चिंतन करना आवश्यक है। क्योंकि इस पंचमकाल में भी साधना का स्वर्णिम अवसर सम्प्राप्त है। इस अवसर को हाथ से यों ही नहीं जाने देना चाहिए। यह अवसर व्यतीत हो गया तो निकट भविष्य में पुनः प्राप्त होना अतीव कठिन है। अतएव प्राप्त मन, वचन, काया के योगों को, नियमोपनियमों तथा सार्वभौम अहिंसा सत्यादि दृष्टि से आत्मिक गुणों को विकसित करने के साथ-साथ समीक्षण ध्यान में तन्मय बनाना हितावह है। नियत समय पर समीक्षण ध्यान का अभ्यास दृढ़ीभूत बनाते हुए मन-वचन व कायिक योगों में इस प्रकार व्याप्त बना देना चाहिए कि जिससे सोते, जागते, उठते, बैठते, चलते, फिरते, खाते, पीते आदि समस्त जीवन-व्यवहारों में समता का प्रभाव व समीक्षण दृष्टि अभिव्यक्त होती रहे। एतदर्थ समीक्षण-ध्यान-प्रयोग विधि में निर्दिष्ट समयादि का सुव्यवस्थित निर्धारण करते हुए अन्तर्यात्रा के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करने में जीवन का साफल्य समझना चाहिए।

मनोवृत्तियो का समीक्षण अन्तर्पथ की भूमिका पर ही हो सकता है क्योकि चैतन्यदेव का उपयोग समीक्षण भाव से ओत-प्रोत होकर बाह्य दृश्यो से सर्वथा विलग होगा, तभी वह भूमिका सम्भव होगी।

एकाग्रता के साधन कई उपलब्ध हो सकते हैं। उनमे पाच इन्द्रियो सबधी अवयव भी माध्यम बनते हैं और श्वासोच्छ्वास तथा शारीरिक अवयव भी। हृदय की समीपता एव नाभि आदि अवयव भी इसमे माध्यम बन सकते हैं। एतद्-विषयक विज्ञान को इस विषय के विज्ञ व्यक्ति के सन्निकट रह करके क्रियान्वित करना चाहिए। क्रियान्विति करने के लिए जो भी सकेत मिले, उन सकेतो मे ननु नच बुद्धि मे भी न लाना अभ्यास के लिए नितान्त आवश्यक है। उस समय सर्वतोभावेन समर्पित होने पर ही सफलता के शिखर पर आरोहण हो सकता है।

तीर्थङ्कर प्रभु महावीर ने बडा ही महत्त्वपूर्ण व उपयोगी सदेश दिया है— "पण्णा समीक्खाए धम्म"। अर्थात् प्रज्ञा से धर्म का समीक्षण करो। धर्म का अर्थ यहाँ वस्तु स्वभावरूप निश्चय धर्म एव तदनुरूप व्यवहार धर्म है। वह मुख्यतया जड एव चेतन तत्त्व से सबधित है। उसका विज्ञान श्रुत धर्म के सहारे करने पर यथास्थान समीक्षण करते हुए चलना चाहिए। वह समीक्षण भावात्मक प्रज्ञा से ही हो सकता है, अन्य से नही। क्योकि उसी प्रज्ञा मे ही स्व-पर की सम्यक् निर्णायक शक्ति विद्यमान है। उसी निर्णायक शक्ति से हेय, ज्ञेय और उपादेय का विज्ञान होता है। ज्ञेय प्रज्ञा से ज्ञान एव प्रत्याख्यान प्रज्ञा से क्रियान्विति बनती है। इसके बिना अग्रिम मार्ग प्रशस्त नही बन सकता। ऐसी प्रज्ञा प्राप्त करने के लिए पर-सापेक्ष विकृत वृत्तियो का सलोकन एव परित्याग करना आवश्यक है।

विकृत वृत्तियो को उनके यथार्थ रूप मे देखना चाहिए न कि उन पर रागात्मक और द्वेषात्मक वृत्ति आनी चाहिए, समत्व भाव की ज्योत्स्ना मे अवलोकन करते हुए उन वृत्तियो की फल रूप मे परिणति को अवलोकित करना चाहिए।

जहाँ अन्तरग वृत्तियाँ इन्द्रियो एव शारीरिक आकृति के रूप मे अभिव्यक्त होने लगती है वहाँ इन्द्रियो एव आकृतियो के माध्यम से उनका अनुमान किया जा सकता है। उन वृत्तियो मे अभिव्यक्त होने वाली एक वृत्ति क्रोध की भी होती है। उसका समीक्षण शारीरिक अवयवो से किया जा सकता है। जिस समय क्रोध वृत्ति का परिणमन होने लगता है उस समय स्वय को उसका पूर्वाभास हो जाता है। वह यदि समीक्षण प्रज्ञा-सम्पन्न है तो उसी समय उसे उस क्रोध का मानस तत्र मे ही समीक्षण प्रारम्भ कर देना चाहिए। यदि वह उस उत्तेजनात्मक क्षणो मे उत्तेजित न होकर उस क्रोधमय वृत्ति को नासिका के श्लेष्म की भाति

समझे, उसके अधीन अपने मानस-तंत्र को न होने दे, सोचे कि श्लेष्म के तुल्य इन क्रोध संबंधी दलिकों को मानस-तंत्र के साथ न चिपटने दिया जाय। ये उदयावस्था में आकर स्वयं ही विनष्ट हो जाएंगी। इन्हें समाप्त होने दिया जाय। चिपटने में हानि ही है। जिस प्रकार श्लेष्म पर मक्षिका बैठ जाती है और बैठने के पश्चात् उसमें उसकी टांगें फंस जाती हैं। वह छूटने के लिए तड़फड़ाती हुई अपने प्राणों को खो बैठती है। ठीक वैसे ही क्रोध रूपी श्लेष्म में मानस-तंत्र की कोई वृत्ति फंस जाती है वह यदि तीव्र अनुभाग-रसवाली है तो उस वृत्ति का निकास होना दुष्कर हो जाता है। समग्र मानस तंत्र दूषित होकर नवीन क्रोध संबंधी दलिकों का संचय कर लेता है। क्योंकि कर्म दलिक बंध के समय जिन परिणामों से बंधता है, वही कर्म विपाकोदय के समय न्यून से न्यून दस गुणाधिक महसूस होने लगता है। पूर्ण विपाक की परिणति में मानस तंत्र लिप्त हो जाता है। उससे कई गुणाधिक क्रोध संबंधी कर्म स्कंधों का उपार्जन कर लेता है। उसके भोग के समय पुनः नवीन कर्मस्कंधों के बंधने का प्रसंग नहीं आता है। पर यह तभी संभव है जब उन कर्मस्कंधों के उदय के समय समीक्षण दृष्टि के साथ समीक्षण ध्यान का आश्रय लिया जाय।

कभी-कभी अन्य की आकृति देखने से स्वयं की परिणति भी वैसी होने लगती है। परन्तु उस समय भी अपने आपकी परिणति का समीक्षण करना तथा सामने उपस्थित व्यक्ति से कहे कि—आप उत्तेजित होकर योग्य कार्य नहीं कर रहे हैं। इससे अन्य का तो अहित हो नहीं सकता। अन्य का अहित तो तब हो सकता है जब वह आपको देख स्वयं में क्रोध की परिणति होने दे। यदि वह आपको देख अपने आप में क्रोध की परिणति नहीं उभरने देता है तो उसका अहित नहीं होगा परन्तु आपका अवश्यमेव अहित होगा। अतएव प्रत्येक इस उत्तेजना को स्वयं के अन्दर समादर न देकर उपेक्षा भाव अपना लेना चाहिए, जिससे आप स्वयं के अहित से अपने आपको बचा पायेंगे। इस अवसर पर आप समीक्षण ध्यान का अवलम्बन करें एवं समताभाव के साथ यह चिंतन करें कि समक्ष उपस्थित व्यक्ति अनीति एवं अत्याचार कर रहा है, इसे मुझे सहन भी नहीं करना है, किन्तु उसका प्रतीकार अनीति एवं अत्याचार से नहीं, नीति एवं सदाचार से करना है और वह भी बिना आवेश के। आवेश के वशीभूत होकर किया जाने वाला प्रतीकार तत्काल भले ही कुछ उपयुक्त लगता हो किन्तु वह स्थायी नहीं हो सकता साथ ही वह प्रतिक्रिया जन्य होता है।

सकता है। वैसे ही सामने वाले को उत्तेजित देखकर उत्तेजना पूर्वक उत्तर देने से उसकी उत्तेजना शमित नही होगी किन्तु आवेश मे नही आते हुए शान्ति पूर्वक उत्तर देने से उसमे उत्तेजना जागृत नही होगी और जो पूर्व की उत्तेजना है वह भी शान्त बनेगी। उसे अपनी गलती का अनुभव होने लगेगा। जिससे वातावरण शान्त होगा और स्व-पर के लिए सुखद परिणाम निकलेगा।

प्रभु ने इस दृष्टि से सर्वप्रथम क्रोध समीक्षण का उल्लेख किया। क्रोध की उपशमना समीक्षण दृष्टि से हो जाने पर मान का समीक्षण करने मे सुगमता रहेगी। मान का समीक्षण सध जाने पर माया का समीक्षण हो सकना शक्य बनेगा। तदनन्तर लोभ समीक्षण करने मे काफी सुगमता आ जायेगी। यह क्रम प्रभु ने दिया है। वह वैज्ञानिक अनुभूतिपरक है। अतएव सुज्ञ पुरुषो को चाहिए कि वे उपरिनिर्दिष्ट विधि के साथ समीक्षण करते हुए लोभ समीक्षण तक पहुँचे। लोभ समीक्षण यदि सम्यक् रूप से हो गया तो आन्तरिक निर्मल शक्तियो का आह्लादक अनुभव होने लगेगा एव अग्रिम गतिविधि मे प्रशस्तता आ जायेगी। मानसिक वृत्तियो का परिमार्जन हो जाने से वे अधिक तेजस्विता के साथ सक्रिय होगी। एव अन्तश्चेतना के शुद्ध स्वरूप के समीप पहुँचने के लिए मार्ग राजपथ की तरह निर्बाध बन जायेगा। जिससे चैतन्यदेव एक न एक दिन आत्मा का साक्षात्कार कर कृतकृत्य हो जायेगा।

साधक की एतद्विषयक निरन्तर जागृति रहे तब तो गति सुगम बन सकती है, अन्यथा राजमार्ग से विलग होकर साधक पुन भटक भी सकता है। क्योकि लोभ विषयक जिन परिग्रहो का ऊपर उल्लेख किया गया है। उन प्रसिद्ध परिग्रहो को ही परिग्रह समझ अधिकाश साधक चल पडते है। वे उन्ही परिग्रहो का ध्यान रखते हुए निश्चिन्त हो जाते है। सोच लेते है कि इनके अलावा लोभ का कोई विषय है ही नही। इस प्रकार की वृत्ति से अप्रसिद्ध परिग्रह सम्बन्धी लोभ वृत्ति मे फस जाते हैं। जिससे प्राप्त उपलब्धिया भी स्थिर नही रह पाती, लुप्त हो जाती है। नवीन विकास के लिए तो मार्ग अवरुद्ध ही हो जाता है। उस पर ताला लग जाता है। यहाँ तक कि इस विषयक चर्चा का प्रसग भी उपस्थित नही होता है।

अप्रसिद्ध परिग्रह कई प्रकार के होते है, जिनका ज्ञान विशेषत अनुभूति के आधार पर होता है। साधक साधना मार्ग पर चलने के लिए यत्किंचित् त्याग करता है। वह त्याग कई साधारण व्यक्ति नही कर सकते। वैसे त्याग की बात साधारण जनसमुदाय श्रवण करता है तो आश्चर्यान्वित होता है। एक दूसरे को कहता है कि इन्होने अमुक वस्तु का त्याग कर रखा है। ये बडे त्यागी है, इनका ध्यान रखो। इन बातो को जब वह त्याग कर्ता श्रवण करता है तो सोचने लगता है कि मैं भी कुछ हो गया हूँ। ऐसा सोचकर महत्त्वपूर्ण त्याग की तरफ विशेष

अन्य दोषो का निर्भयतापूर्वक आसेवन करने से नीचे की ओर ही जाता है।

अन्य भी एक अनुभव हुआ। एक व्यक्ति मे त्याग की कोई विशेष बात न थी। सिर्फ कुछ समय तक उसे सतो की सेवा मे रहने का प्रसग प्राप्त हुआ। इससे लोगो की ऐसी धारणा बनी कि यह दीक्षा लेने वाला है। पोषाक उसकी सादी थी। विवाहादि के प्रसग मे कुछ भाई एक दुकान मे बैठे हुए सासारिक बाते कर रहे थे। हसी-मजाक भी चल रहा था। स्वाभाविक तौर पर वह भाई वहाँ जाकर चुपचाप बैठ गया। उस वक्त श्रीमान् मीठालालजी राका भो वहां उपस्थित थे। दीक्षा सबधी वातावरण की बात अन्य को तो मालूम न थी लेकिन श्री राका साहब को थी। उनका मु ह तो उन लोगो की तरफ ही था। उन्होने पीछे मुडकर देखा तो एक तरफ हट गये। अन्य जनो को इशारा किया, सब चुप हो गये। जो हसी-मजाक हो रहा था वह बद हो गया। उसके स्थान पर अच्छी-अच्छी जीवन निर्माण सबधी बाते करने लगे। इससे यह अनुभव हुआ कि लोभ को छोडा नही किन्तु छोडने का यत्किचित् भी वातावरण समझदार व्यक्तियो के कर्मगोचर होता है तो वे उसकी इज्जत-आदर करने लगते है। लेकिन आदर जिसका किया जाता है वह यदि इस आदर के लोभ मे उलझ जाता है तो यह आदर-सत्कार भी अप्रसिद्ध परिग्रह की श्रेणी की कोटि मे आ जाता है।

प्रशसा मे उलझने वाला शनै-शनै आदरास्पद गुणो से एव त्याग मार्ग से नीचे गिरने लगता है जबकि आदर करने वाले शनै-शनै ऊपर की ओर बढने लगते है। यह तथ्य तभी समझ मे आता है जबकि आदर आदि को यत्किचित् भी महत्त्व न देकर निरन्तर आगे बढने का प्रयास किया जाय एव पवित्राचरण से अभिव्यक्त होने वाली पूत अनुभूतिया उभरती रहे। इस प्रकार की अनुभूतियो के बिना अप्रसिद्ध परिग्रह का त्याग करने की भावना के साथ-साथ यथाशक्ति सत्पुरुषार्थ करने वाले साधक जब साधु-जीवन स्वीकार कर बौद्धिक कला से कुछ व्याख्यान देने लगते है तब स्वभाविक है कि कुछ प्रशसा के स्वर श्रोतागणो मे से निकल पडते है। किंतु उपर्युक्त साधक इस प्रशसा के लोभ को पचा नही पाते एव जिस बाह्य एव आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग का सकल्प लेकर चले है उसको साकार रूप जीवन मे नही दे पाये। परिपूर्ण साकार रूप देने के लिए प्रयत्नशील होते हैं,तो अनादिकालीन परिग्रह सबधी लोभ-वासनायें अन्तर मे द्वन्द्व मचाती रहती है। उस पर भी नियन्त्रण पाने का प्रयत्न करते हुए चलते है तो प्रशसा सबधी लालसा अन्तर मे स्थान पाने लगती है। तो प्रसिद्ध परिग्रह सबधी वासना इस प्रशसा के रूप मे रूपान्तरित हो जाती है। इस वासना मे साधक इतना घुल जाता है कि जिससे उसको यह भी भान नही रहता कि यह रूपान्तरित आभ्यन्तर परिग्रह का भी जनक है और मुझे इसकी तरफ ध्यान नही देना है किन्तु इस प्रशसा के लोभ को भी मुझे सपरित्याग

[illegible] है। प्रसिद्ध परिवार में जितनी हानि होती है उससे कई गुनी हानि [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] होता है। वे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पीछे [illegible] चलते हैं।

[illegible] [illegible] के अनुरूप [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] करते हैं। [illegible] इस युग में भी कदाचित् [illegible] [illegible] है। [illegible] भूतकाल में शान्त क्रान्ति के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। जिन्होंने उनको समीप से देखा [illegible] है, वे उन्हें अच्छी तरह समझ पाये होंगे। कहा तो अनेक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] करते [illegible], जो मान-सम्मान एवं पद-प्रतिष्ठा के लिए [illegible] प्रयत्न करते हैं और कहाँ [illegible] आचार्य श्री गणेशीलाल [illegible] [illegible] सहज स्वाभाविक रूप से ठुकरा दे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पद प्राप्त [illegible] [illegible] प्राप्त [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] का सम्मान, सत्कार प्राप्त था। दूसरी तरफ प्रभु महावीर द्वारा निर्दिष्ट निर्ग्रन्थ श्रमण [illegible] [illegible] [illegible] था। उस [illegible] श्रमण संस्कृति के संरक्षण [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] उपर्युक्त [illegible] पद प्रतिष्ठा के [illegible] [illegible] परित्याग से [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] किया। तत्काल कुछ महानुभावों को इस क्रान्ति का [illegible] [illegible] पाया, किन्तु जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, वैसे वैसे [illegible] [illegible] दृष्टि पथ पर आने लगा। तब उन लोगों को भी इस क्रान्ति का [illegible] [illegible] होने लगा। विरोध पक्ष में रहने वाले महानुभाव भी [illegible] [illegible] आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. [illegible] [illegible] भविष्य सम्बन्धी [illegible] [illegible] [illegible] जिसके [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] उठाया।

[illegible] [illegible] स्वर्गारोहण तिथि के प्रसंग पर [illegible] [illegible] [illegible] श्रीमान् [illegible] [illegible] [illegible] ने [illegible] जन समुदाय के [illegible] कारण कई [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] आदि।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] उठाया [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

ने जो कदम उठाया है उसको विरुदावली के साथ आगे वढाने की अपेक्षा कुछ श्रावक, समाज के कुछ नेतागण उसका विरोध कर रहे है। यह 'बाड ही खेत को खाय' ऐसे न्यायवाली बात है। महाराज श्री कितने दृढ है, यह मैं नही जानता किन्तु उन्होने अपनी आत्मा को हितमार्ग पर टिका रखा है। इस आशय के भाव श्रीमद् गणेशाचार्य जीवन चरित्र मे हूबहू आये है। उसे उद्धृत करना है।

तात्पर्य यह है कि साधना पथ पर गमन करते हुए सत्कार सन्मान का जीवन पर असर न होने देना, यह जागृत आत्मा का कार्य है, किन्तु ऐसी आत्माएँ विरल ही हुआ करती हैं। अधिकाश तो इस सत्कार-सम्मान रूप लोभ को लोभ रूप मे या परिग्रह के रूप मे समझ ही नही पाते। सयम ग्रहण करने के पूर्व जिस उद्देश्य से सयम जीवन स्वीकारा था, समग्र परिग्रह का त्याग किया था। उस उद्देश्य को विस्मृत कर सत्कारादि मिलने के बाद उस उद्देश्य लक्ष्य को प्राय विस्मृत कर देते है। उसके स्थान पर सत्कार सम्मान को प्रधानता देने लगते है। वे प्रसिद्ध ऊपरी परिग्रह को ही परिग्रह के रूप मे परिगणित करते है। किन्तु सत्कारादि लाभ को परिग्रह न समझ कर अपने सयमी जीवन को उसी के लिए समर्पित कर देते है।

ऐसे कथित साधक आरभ-समारभ के कार्य करने से अधिक सत्कार-सम्मान मिलता हो तो उसे भी करने मे सकोचानुभव नही करेगे। जहा साधु जीवन का सरल होना विशेष गुण है, क्योकि ऋजुता धर्मनिष्ठ आत्मा का विशेष गुण है, किंतु आदर-सत्कार की कामना से उस गुण को भी तिलाजलि देने मे सकोच प्राय वे नही करते हैं। परिपूर्ण साधनारत साधक का क्षमा सबसे पहला गुण है किंतु जब आदर सत्कार की अभिलाषा जागृत होती है तब उसकी प्राप्ति मे क्षमा गुण को भी परे रख दिया जाता है।

सयमी जीवन मे किसी पदार्थ का लोभ नही होना चाहिए किंतु आदर-सत्कार का लोभ इतना जबर्दस्त है कि वह निर्लोभता की वृत्ति को भी लाछित कर देता है। स्वभाव मे मृदुता व नम्रता होनी चाहिए, किन्तु कही पर भी आदर-सत्कार मे न्यूनता दृष्टिगोचर होती है तो वही कठोर बनकर आदर-सत्कार न देने वाले के साथ निष्ठुरता का व्यवहार करने लगता है।

साधु जीवन बहुत लघुभूत होना चाहिए। सयम मे सहायक वस्तुओ के उपकरणो के अतिरिक्त अन्य वस्तु की आवश्यकता नही रहनी चाहिए, किन्तु आदर-सत्कार की भावना जब अन्तर मे गहरा स्थान बना लेती है तो प्रत्येक कार्य मे उसको सपादित करने का लक्ष्य रहता है। यथा यदि ऐसे साधक को ज्ञात हो जाता है कि अमुक प्रकार का वस्त्र या अन्यान्य वस्तुएँ जितनी अधिक होगी उतना ही सत्कार अधिक मिलेगा तो वैसी स्थिति मे सयमी-उपकरणो के अतिरिक्त, जिनके बिना सयमी जीवन मे कोई रुकावट नही आती है, ऐसी

करने का प्रयत्न करेगा तो मैं उसको दण्ड दू गा, मार डालू गा। मेरे जीवित रहते इसको कोई ले नही सकता। इस प्रकार अनेक कल्पना करता हुआ कितनी अज्ञता प्रदर्शित करता है। मोहान्ध वना हुआ मानव एकागी दृष्टिकोण से सोचता रहता है। अपने निजी स्वरूप के विवेक को लुप्त कर रात और दिन हाय हाय करता हुआ एक समय इस शरीर को छोड दुर्गति का मेहमान बन जाता है।

चैतन्य देव की यह कितनी बडी मूढता है। जिस सुज्ञ पुरुष का यत्किचित् भी ज्ञान प्रकाश की ओर मुडने का प्रसग आता है वह पुरुष अज्ञान दशा की ओर का चिन्तन छोड कर ज्ञान एव तदनुरूप आचरण की दिशा मे अग्रसर होता है और चिन्तन करता है कि इस 'खेत्त वत्थु' के साथ मेरा धर्मशाला का सा सम्बन्ध है। मुसाफिर धर्मशाला मे कुछ समय के लिए विश्राम करता है, किन्तु उस धर्मशाला मे अपनत्व स्थापित नही करता है, न आसक्त ही बनता है। अग्रिम मजिल पर पहुँचने के लिये सहर्ष उसका परित्याग कर अन्य आगन्तुक को वह स्थान सौप देता है। कहता है—आप यहाँ रहिये, मैं जा रहा हूँ अथवा धर्मशाला के सरक्षक को सुपुर्द कर चल पडता है। उस धर्मशाला मे जरा भी आसक्ति का भाव नही रखता। जिस तटस्थ भाव से वह उस धर्मशाला मे रहा, उसी तटस्थ भाव से छोड कर चल पडा। ऐसा ही मेरा इस 'खेत्त-वत्थु' के साथ सम्बन्ध है। मैं इसमे जरा भी आसक्त न बनू एव न इसके निमित्त कर्म बधन ही करूँ। इसको छोडकर मुझे अपने गतव्य स्थान पर जाना है मोक्ष की मजिल तय करना है। मेरा वास्तविक स्थायी एव शाश्वत स्थान सिद्धालय मोक्षावस्था है। सिद्धत्व मेरा स्वरूप है जो अब भी सत्ता रूप मे मेरे साथ है। मैं भी सदा उसके साथ हूँ। मेरे द्वारा ही उपार्जित कर्मों के कारण मैं उसे भूल रहा हूँ, उससे भटक गया हूँ। मुझे उसी भटकन को दूर करना है। मानवी शरीर मे रहते हुये एक-न-एक दिन उस मजिल पर पहुँचना है। मेरा एक मात्र वही गतव्य स्थान है। वही सदा-सदा के लिये विश्रामालय है। उसी आलय को अधिगत करने के लिये सदाचरण पूर्वक समीक्षरण ध्यान की साधना मे तन्मय होना है। अतएव मैं खेत्त वत्थु को भी समीक्षरण दृष्टि के साथ देखू एव उनका ट्रस्टी बन कर रहता हुआ एक-न-एक दिन सहर्ष अन्य सहयोगी साथियो को सौप कर निरुपाधिक बनू जो मेरा निजी स्वभाव है।

इस प्रकार सपरित्याग कर मैं किसी पर अहसास नही कर रहा हूँ। मैं अपने आपको हल्का बनाता हुआ निज स्वभाव की ओर प्रयारण कर रहा हूँ। अधकार से प्रकाश की ओर प्रस्थान कर रहा हूँ। मरण से अमरता की ओर गतिमान् बन रहा हूँ। विष से निकल कर अमृत की ओर जा रहा हूँ। नाशवान् से अविनाशी बन रहा हूँ। जडता का त्यागकर चैतन्य तत्त्व को पा रहा हूँ।

छुटकारा तभी मिल सकता है। जब चैतन्य देव स्व-पर भेद-विज्ञान का सम्यक् विवेक प्राप्त कर ले।

सम्यक् निर्णायक शक्ति का प्रकटीकरण करना मानवीय जीवन मे रहने वाले चैतन्य देव का परम कर्तव्य है। इस कर्तव्य का समीचीन विज्ञान समीक्षण दृष्टि पूर्वक ही किया जा सकता है। उसी दृष्टि से हिरण्य-सुवर्ण को देखूँ, जिससे यह मेरे सिर पर चढ आधिपत्य न जमा सके, न ही मै इनके लिये अपने जीवन की समर्पणा ही करके चलूँ। किन्तु इन हिरण्य-सुवर्ण के प्रति जो मूर्च्छा के भाव बन गये है, उनको विलग करता हुआ चैतन्य देव को निर्मल बनाऊँ।

चैतन्य देव के कल्याणार्थ इनका उपयोग करूँ। जिस प्रकार धन, धान्य, द्विपद, चौपद, शरीरादि के लिये अर्थदृष्टि मे सहायक साधन है, वैसे ही इनको भी सहायक साधन समझूँ एव सपरिपूर्ण साधना के लिये इन सबका उपयोग करूँ। लोभ रूप आसक्ति छोडकर सिर्फ साधना मे सहायक आवश्यक पदार्थों के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ का सचय न करूँ। साधना मे सहायक पदार्थो पर भी आसक्तिमय भाव न आने दूँ। अनासक्त रहता हुआ सदाचार की भूमिका पर समीक्षण ध्यान व समीक्षण दृष्टि से ओत-प्रोत बन जाऊँ।

यह साधना अन्त करणपूर्वक सधने लगे तब विविध पर्यायो वाले दृश्यो, पदार्थों को देख न आश्चर्य होगा और न हास्य ही। हास्यावस्था का तभी प्रादुर्भाव होगा जबकि चैतन्य देव के निजी गुणो का अनुभूतिपूर्वक आस्वादन नही हुआ होगा। जब चेतन गुणो का आस्वादन ध्यान-साधना के माध्यम से होने लगेगा, तब जड तत्त्वो के ऊपर हास्य एव आश्चर्य का प्रसग ही नही रह सकेगा और न किसी पर-पदार्थ के प्रति रति, अरति, आसक्ति या प्रीति होगी। जिस वस्तु को देखा गया उसकी यदि आवश्यकता महसूस हुई तो उसको ग्रहण करने के लिये प्रयत्नशील बना। उस समय कदाचित् अन्य कोई उसे ग्रहण कर लेता है तो उस पर अरति-अरुचि के स्थान पर मध्यस्थ भावना काम करेगी। तथा ऐसा विचार उत्पन्न होगा कि अच्छा हुआ, आवश्यकता वाला मेरा भाई ही उसे ले गया। मै तो सत्पुरुषार्थ कर अन्य सयोग जुटा सकता हूँ। पर वह मेरा भ्राता ऐसा कर सके या न भी कर सके। वह इसको ले गया तो उसके उपयोग मे आयेगी। मेरा उस वस्तु के प्रति कोई आकर्षण या लगाव नही है। ऐसी भावना के बल पर रति-अरति रूप साभयान्तर परिग्रह सम्बन्धी लोभ का समीक्षण सहज बनता चला जाता है।

जब अन्य पदार्थों की आसक्तिपूर्वक पकड समीक्षण ध्यान से छूटने लगती है, तब धीरे-धीरे अन्य पदार्थों के साथ रहा अपनत्व भाव हटने लगता है। वैसी अवस्था मे किसी वस्तु के अपहरण या वियोग का भय नही रहेगा। नही

इस प्रकार के लोभ का दास समग्र विश्व का दास बना हुआ रहता है। ऐसा दास सिर्फ सचेतन प्राणियो का ही नही वरन् जड तत्त्वो का भी दास होता है। उस दासता की अवस्था मे रात और दिन चिन्तातुर बना रहता है। अशाति और दु ख मे डूबा रहता है। क्षण भर के लिये भी वास्तविक शान्ति एव सुख का अनुभव नही कर पाता, जो कि उसका अपना स्वभाव है। इस आत्म-स्वभाव को जागृत करने के लिए एव अज्ञान के अन्धकारपटल को दूर करने के लिए सम्यक्ज्ञान की 'सर्च लाइट' जागृत करने की आवश्यकता है। उसी प्रकाश मे समीक्षण दृष्टि पूर्वक वेद सम्बन्धी लोभ का समीक्षण करे कि यह वेद-सम्बन्धी कर्म-स्कध मदिरा के तुल्य है। इन कर्म-स्कधो को आत्मा ने ही सचित किया है और इन्ही के उदय से आत्मा मोह के नशे से युक्त बनती है और उसी नशे की बेहोशी मे पागल की तरह अपने आपको विनष्ट करने पर उतारू हो जाती है, अर्थात् विकसित आत्म शक्तियो को कर्म-स्कधो के पटलो के नीचे दबा देती है।

सम्यग्दृष्टि साधक वेद सम्बन्धी कर्मोदय होने पर उसका आदर सत्कार न करे, न उसको प्रश्रय दे, न प्रोत्साहित करे, न उसकी ओर ध्यान ही लगाये। उपेक्षा भाव से उसकी जानकारी रखते हुए भी विवेक का पोषण करता रहे। ऐसा करने पर उदयगत वेद स्वत ही विसर्जित हो जायेगा। जैसे किसी नशीली वस्तु का अज्ञानतावश सेवन कर लिया। उस नशे का प्रभाव होने लगा। उस समय उसके प्रतिकूल पदार्थ का सेवन करने से वह नशा विनष्ट हो जाता है या निष्प्रभाव सा हो जाता है। थोडे समय के पश्चात् अपने आप चला जाता है। उसके अधीन होकर, उसके पुष्टिकारक कार्य न करने से उसकी जडे समूल नष्ट हो जाती हैं। यदि नशे मे उसी प्रकार का नशा करने का उसे सूझता है और वह नशा कर बैठता है तो उसकी वह दशा उत्तरोत्तर बढती रहती है। उससे छुटकारा नही मिलता है। नशे की दशा मे और नशा करने की भावना होने पर भी यदि वह उस नशीले पदार्थ का सेवन नही करता है तो पूर्व का नशा भी धीरे-धीरे स्वत ही समाप्त हो जाता है। उससे उसका पिंड छूट जाता है। वैसे वेद-मोहनीय कर्मोदय होने पर चैतन्य देव के मानस-तत्र पर कुछ असर होता है। उस समय चेतन अति सावधानी पूर्वक उस प्रभाव की उपेक्षा कर मन को अन्य कार्य मे नियोजित कर देता है या किसी सार्वजनिक स्थल पर धर्म चर्चा मे लग जाता है, अथवा मित्र सहयोगी साथियो के साथ धर्म-कर्म ज्ञानादि की प्रश्नोत्तरी मे सलग्न हो जाता है तो उस उदयगत मोह की विसर्जना हो जायेगी और सत्ता मे रहे मोहनीय कर्म, जो उदयवस्था को प्राप्त होने वाले हैं—उनकी क्षमोपशमना हो जायेगी अर्थात् उदयगत का क्षय अनुदयगत का उपशम एव मात्र प्रदेशोदय के माध्यम से विसर्जित होने का प्रसग बनता है। अतएव सुज्ञ साधक को चाहिए कि जिस स्थान पर वेदोदय की उद्दीप्ति मे प्रवलता आवे उस स्थान एवं उन उद्दीप्ति निमित्तो से विलग रहता हुआ आदर्श एव पूजनीय जन के समीप सेवादि कार्यो मे तन्मय बन जाय। ज्ञानालोक से

तेरह आभ्यन्तर परिग्रहो का मूल कारण कषाय कहा जा सकता है। इन सभी प्रसिद्ध परिग्रहो का समीक्षण करता हुआ साधक अप्रसिद्ध लोभ का भी समीक्षण करे। अविख्यात परिग्रह रूप लोभ का सक्षिप्त स्वरूप आदर की आसक्ति सत्कारादि की आसक्ति के रूप मे उल्लिखित किया जा चुका है। उनका समीक्षण भी वस्तु स्वरूप की दृष्टि से चिन्तन कर समीक्षण करना चाहिए। चैतन्य देव स्वय अपनी प्रज्ञा से सोचे कि आदर-सत्कार, यश, कीर्ति आदि मेरे अर्थात् आत्मा के निजी स्वभाव नही है, ये तो कल्पित होने से पर स्वभाव की कोटि मे ही आते है। इनको जीवन मे स्थान देना एव इनकी प्राप्ति होने पर हर्षित होना और अप्राप्ति मे चिन्तातुर होना मानो पवित्र आत्म स्वरूप को पाने मे विघ्न रूप है। इनकी कामना करना सम्पूर्ण जीवन को जहरीला बनाना है, स्वोन्नति मे एक बाधा उत्पन्न करना है।

आदर सत्कारादि देने वाले पुण्य का सचय कर लेते हैं किन्तु जिसका आदर सत्कार एव प्रशसा की जाती है वह समीक्षण ध्यानी है तो इसका भी समीक्षण कर अपने को निर्लिप्त रखता है। अन्यथा वह साधना-मार्ग से इधर उधर भी हो सकता है। प्रशसा मीठे विष (पोइजन) के तुल्य है। इसको पचाना अति ही कठिन है। समीक्षण दृष्टि इसको हजम करने मे अमोघ औषध का कार्य करती है। अतएव अविख्यात लोभ का समीक्षण होना अत्यन्त आवश्यक है। कभी-कभी साधनारत साधक साधना से उपलब्ध होने वाली फल-श्रुति को श्रवण कर ललचा जाता है। उसके मन मे फल के लाभ की आकाक्षा जागृत हो जाती है। वह सत्कार-सम्मानादि अप्रसिद्ध लोभ का तो समीक्षण कर बच जाता है किन्तु साधना से होने वाली उपलब्धि या उपयोग के लिए मचले अपने मन का सवरण नही कर पाता है। अन्दर ही अन्दर इन विचारो से घिरा रहता है कि साधना से मुझको ऐसी शक्ति मिल जाय ताकि मैं दुनिया को चमत्कार दिखा सकू। वैक्रिय आदि लब्धि की प्राप्ति हो जाय तो मैं एक के अनेक रूप बना इच्छित स्थान पर, दूरस्थ होने पर भी शीघ्र पहुँच जाऊँ। इस प्रकार अन्यान्य ऋद्धि-सिद्धियो की लालसा अन्तर मे स्थान बना लेती है। यह अन्तर की लालसा अन्य को दिख नही पाती है, न इसका आभास ही शीघ्र हो सकता है, क्योकि वह साधक उपदेश प्रदान करते समय इन सब लब्धियो की चाह का निषेध करता रहता है, इसलिए अन्य को यह सोचने का प्रसग ही नही आता है कि इस साधक के अन्तराल मे साधना के फल रूप लब्धियो की चाह है। इस तथ्य को तो अतिशय ज्ञानी ही जान सकते है या उस साधक की स्वय की आत्मा।

जिस प्रज्ञा-सम्पन्न साधक ने आत्मा को आत्मा के परिपूर्ण आनन्दमय शुद्ध स्वरूप को एव परम शान्ति के साथ सम्पूर्ण अद्वितीय महत्त्वपूर्ण शक्तियो को सम्यक् ज्ञान पूर्वक जाना एव शुद्ध श्रद्धान के साथ लक्ष्य रूप से हृदयगम

लोभ एक ऐसा अदृश्य सक्रामक रोग है, जो साधको को समय समय पर किसी न किसी रूप मे घेर लेता है। साधना की शाखा-प्रशाखाओ को रुग्ण बना देता है। साधना की महत्त्वपूर्ण प्रणाली के प्रसग मे स्वर्ग सबधी जो वर्णन आता है उसमे ऐसा वर्णन भी आता है, जो दुनिया के लिए अत्यन्त आश्चर्य-कारक होता है। देवलोक से सबधित वर्णित विषय का स्वरूप मनुष्य लोक मे जब दृष्टिगत नही होता है, तो स्वभावानुसार मानव का मन उसको प्राप्त करने के लिए मचल उठता है। यह अवस्था सामान्य मनुष्य की प्राय. हुआ करती है। किन्तु कई साधको की भी यही दशा बन जाया करती है। उनके हृदय की भीतरी परतो मे स्वर्ग सबधी सुखोपभोग का लोभ उभरने लगता है। किन्तु इस प्रकार के लोभ का पता लगाना अति ही दुष्कर हो जाता है। साधक इस युग मे आन्तरिक वृत्तियो तक पहुँचने का अभ्यास नहिवत् सा करते है। कदाचित् कोई साधक अन्त. पथ का पथिक बनकर भीतरी वृत्तियो को प्रबलता से देखने की चेष्टा करता है तो भी प्रबल वेग मे सूक्ष्म वृत्तियाँ एव उन वृत्तियो के किसी कोने मे छिपे हुए लोभ को देख पाना अति दुष्कर होता है, क्योकि प्रकर्ष रूप से चलने वाला वेग भी समग्र वस्तुओ को देख नहीं पाता है और न मदगति से चलने वाला वेग ही उसे देख पाता है।

मन्दता और तीव्रता ये दोनो एक एक तट है। तट की परिधि मे बीच की अवस्था कहा कितनी बारीकी मे रही हुई है, उसको वे दोनो अवस्थाओ वाले देख नही पाते हैं। एक तरफ बिल्कुल निम्न स्तर है और दूसरी तरफ उच्च स्तर होने से एक तट वाले दूसरे तट को भी सम्यक् तरीके से देख नही सकते क्योकि दोनो मे विषमता है। विषम अवस्था मे किसी भी वस्तु का सही अवबोध नही हो पाता है। लगभग यही अवस्था कई साधको की हुआ करती है, जिससे वे अन्त पथ के पथिक कहलाने पर भी आन्तरिक सूक्ष्म वृत्ति मे छिपे हुए स्वर्ग के आकर्षण सबधी लोभ को नही देख पाते और वह पनपता रहता है। उसके दृष्टि मे नही आने से साधना मे विकृति आ जाती है एव वीतराग की आज्ञा का उल्लघन भी अज्ञात दशा मे बन जाता है, ऐसे लोभ को देखने के लिए साधना मे समीक्षण ध्यान का बहुत बडा महत्त्व बढ जाता है। समीक्षण ध्यान एक ऐसी यथार्थ भूमिका है कि जिससे जो वस्तु जैसी है, वैसी ही दिखाई देती है। उसमे जरा भी अन्तर नही आ पाता। इसीलिए तीर्थङ्कर प्रभु महावीर ने कहा —

'पण्णा समिक्खए धम्म' प्रज्ञा से धर्म का ईक्षण करो।

इस ईक्षण के पीछे अन्य विशेषण न लगा समविशेषण लगाया है। यह केवलालोक की सच्ची अनुभूति है, क्योकि समता भाव पूर्वक देखी जाने वाली वस्तु का सही स्वरूप ज्ञात होता है। विषम भाव के साथ वस्तु का सही ज्ञान न होकर विपरीत ज्ञान होता है। जिसके परिणामस्वरूप राग द्वेष की वृत्ति

इस प्रकार साधना के क्षेत्र मे अन्य कषायो के समीक्षण के साथ लोभ समीक्षण का कार्य भी अति ही महत्त्वपूर्ण है। क्योकि प्रखर साधना करते हुए भी चित्त वृत्तियो के किसी भी प्रतर मे स्वर्ग सबधी लोभ का स्वल्प अश भी रह गया हो तो उस स्वल्प अश को दूर करने मे विलम्ब नही होगा। उसका समीक्षण नही किया गया तो प्रखर साधना की बदौलत उपलब्ध होने वाली महान् उपलब्धि मे घुन लग जाना सभव है और वर्षो की साधना का अभीष्ट फल न मिलकर विपरीत फल की परिणति मे उसकी साधना समाप्त हो सकती है। इसी प्रकार निदान सबधी लोभ का प्रादुर्भाव हो सकता है। यह एक ऐसा विचित्र लोभ है कि जिससे साधकगण अपनी साधना के वास्तविक एव महत्त्वपूर्ण लक्ष्य को तो विस्मृत कर देते है। वे नही सोचते कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी महाप्रभु वीतराग देव मेरे समक्ष उपस्थित है। मेरे समग्र भावो के, अध्यवसायो के आत्मस्वरूपादि समग्र पर्यायो के विशिष्ट ज्ञाता है, प्रत्यक्ष देखने वाले है। अति दूर रहने वाले पुरुषो के एव पदार्थों के समग्रस्वरूप को जानने एव देखने वाले है, इस वक्त कोई भी निदान सबधी अध्यवसाय अभिव्यक्त हुए तो वे महाप्रभु उसी रूप मे देख लेगे। अतएव कम से कम महाप्रभु के समवसरण एव समीपता मे तो मैं ऐसा विचार न करूँ, निदान सबधी लोभ के वशीभूत होकर अपनी अनमोल साधना को तो दाव पर न लगाऊँ। लेकिन इस बात का ध्यान भी उस लोभ की गहरी परत के नीचे विलुप्त सा हो जाता है।

महाप्रभु चौबीसवे तीर्थङ्कर श्री महावीर स्वामी समवसरण मे विराजमान थे। सुबाहुकुमार सपरिवार दर्शनार्थ उपस्थित हुआ। विधिवत् अभिगमादि करता हुआ, विधिवत् बदन कर समवसरण मे आसोन हुआ। वहाँ बैठे हुए धर्मात्मा स्त्री-पुरुपो ने सुबाहुकुमार एव उसकी धर्मपत्नी को देखा। उनकी दृष्टि दम्पती के रूप-लावण्य पर जम गयी। उस समय धर्म-साधना समवसरण एव प्रभु महावीर की साक्षात् उपस्थिति को भी विस्मृत कर मन ही मन धर्मकरणी का सौदा कर बैठ। पुरुष वर्ग सोचने लगा कि मेरी धर्मकरणी का फल अगले जन्म मे मिले तो सुबाहु की धर्मपत्नी सी पत्नी मिले, स्त्री वर्ग ने भी मन ही मन सकल्प किया कि हमारी धर्मकरणी का फल हो तो अगले जन्म मे सुबाहुकुमार जैसा पति मिले।

इस प्रकार निदान सवधी लोभ ने उन साधको को मूर्च्छित कर दिया, वेहोश बना दिया। उस समय प्रभु महावीर ने उन धर्म साधको को जगाते हुए, लोभासक्ति की मूर्च्छा से ऊपर उठने के लिए सबोधन दिया एव फरमाया कि लोग क्या कर रहे हो। यह विपय तो अनादिकाल से आप लोगो की आत्मा थ सदा ही रहा हुआ है। इसी विषय ने चार गतियो, चौरासी लाख जीव या मे परिभ्रमण करवाया है। इसके कारण विविध अकथनीय व्यथाओ का अनुभव कर चुके हो। आपको यही एक ऐसा जन्म मिला है जिससे आप इस

विषय से ऊपर उठ सकते हो । यह इस महानिद्रा से जगने का प्रसग है । गहरी चिन्तन-मनन की अनुभूति के साथ सम्यक्‌दृष्टि भाव का लक्ष्य सम्मुख रखो । उसी की उपलब्धि के लिए यह सभी धर्म साधना है । इस धर्म साधना से आत्मा के अनिर्वचनीय शुद्ध स्वरूप को अभिव्यक्त करने का यह सुअवसर है । इस सुअवसर पर भी उसी नाशवान् रूप सबधी लोभ की गदगी को अपने जीवन मे भर रहे हो । इस चमडे के रूप के पीछे शुद्ध आत्म साधना को समाप्त क्यो कर बैठे हो ! यह हितावह नही है । समझो ! सावधानतापूर्वक अपने स्व-स्वरूप की प्राप्ति के लक्ष्य को स्थिर करो । आत्मिक स्वरूप को बेभान बनाने वाले विनश्वर विषयो की प्राप्ति हेतु धर्मकरणी को बेचना सर्वथा अनुचित है । अब तक मानसिक दुर्बलता के कारण जो कुछ बन गया उसका आलोचनापूर्वक प्राय-श्चित्त लेकर परिमार्जन करो एव निदान सबधी अध्यवसाय एव नाशवान् लोभ की कांक्षा को विसर्जन कर निज स्वरूप मे रमण करने का सतत समता भाव पूर्वक प्रयत्न करो । इस प्रकार के लोभ का समीक्षण कर इसको सदा-सदा के लिए मन से विसर्जित कर दो । इसी मे इस आर्य क्षेत्र, मनुष्य जन्म आदि की सार्थकता है । अतएव उस सार्थकता को भली प्रकार सिद्ध करने का शक्ति भर प्रयास करो ।

तीर्थंकर देवो के समय और उनके समक्ष साधको को मूर्च्छित करने वाला यह लोभ कितना विचित्र एव भयकर है । यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है । आज के साधको को तो और अधिक सावधानी रखने की आव-श्यकता है । क्योकि आज सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर देव, गणधर या सामान्य केवली नही हैं । परम अवधिज्ञानी आदि अतिशयज्ञानी महात्मा भी नही है । किन्तु उन तीर्थङ्कर देवो की वाणी आज भी सुलभ है एव उनके निर्देशानुसार साधको को आत्म-कल्याण करने का सुअवसर भी मिला है । इस साधना मे बाधा पहुँचाने वाले बाह्य एव आन्तरिक अनेको निमित्त मिल सकते है । उन निमित्तो मे से साधक सावधान न रह पाया तो साधना की क्या अवस्था बन सकती है, यह सहज ही जाना जा सकता है ।

ऐसे प्रसगो पर समीक्षण ध्यान एव उसके अन्तर्गत निष्पन्न होने वाली समीक्षण दृष्टि ही विशेष सहायक हो सकती है । अतएव इसको अमोघ उपाय समझकर, व्रत-नियमो के दृढ कवच के साथ समतामय जीवन को सुरक्षित रखते हुए समीक्षण दृष्टि के शान्त, सौम्य एव तटस्थ रूप से अवलोकित कर लोभ रूपी प्रतिपक्षी को विच्छिन्न करने वाले बाण के तुल्य समझकर इसी दृष्टि से शमित करे । साथ ही आन्तरिक विघ्नो को भी अत्यधिक अवधानता पूर्वक विच्छिन्न करने का अभ्यास भी सफलता की कुजी है । बाह्य निमित्तो की अपेक्षा आन्तरिक साधना पर आघात करने वाले आन्तरिक निमित्त बडे ही भयकर होते हैं । क्योकि उनकी उपलब्धि एव आन्तरिक गुणो की समुपलब्धि होने

समान धरातल है। समान धरातल का तात्पर्य-आन्तरिक पृष्ठभूमि से है। जिस आन्तरिक पृष्ठभूमि पर सद्गुण, सदाचार, समीक्षण ध्यानादि उपलब्धियाँ प्रकट होती है उसी आन्तरिक भूमिका पर दुर्गुण, दुराचार, विषमता एव राग-द्वेष आदि के साथ लोभ का प्रादुर्भाव भी होता है । जिस खेत मे गन्ना निपजता है उसी खेत मे अफीम भी पैदा होती है। वैसे ही जिस आन्तरिक भूमिका पर सद्गुण साधनादि, अतिशय महत्त्वपूर्ण लोकोत्तर गुण उभरते है। उसी अन्तर मे अफीम के तुल्य भानहीन बनाने वाली लोभादि दुर्वृत्तियाँ पुष्पित, पल्लवित, फलित होती है।

इन दुर्वृत्तियो ने अनादि काल से भीतर मे अपना गहरा स्थान बना रखा है। ये गुरिल्ला योद्धाओ की तरह वार करके छिप जाते है। इन्होने भीतर अपनी सुरक्षा का कहाँ-कहाँ, किस-किस रूप मे स्थान बना रखा है, उन स्थानो की परिपूर्ण जानकारी तो परिपूर्ण साधना के स्वरूप को प्राप्त करने पर ही हो सकती है। लेकिन अनुमानत भलीभाँति जाना जा सकता है कि साधना की तीव्रता एव समीक्षण दृष्टि की जिस समय तीक्ष्णता होती है, उस समय ये अपने सुरक्षित स्थान मे छिप जाते है और जैसे ही साधक चिन्तन करता है कि मेरे भीतर किसी प्रकार का लोभादि नही रहा और ऐसा सोचकर निश्चित-सा बन जाता है। तब अवसर पाकर वे लोभादि पुन अपना प्रभाव दिखाने लगते है। यथा—आधुनिक डाक्टरो का कहना है कि आजकल का मलेरिया बुखार कुछ दिन आता है और औषधोपचार से चला जाता है। निश्चित बन रोगी अपने काम मे लग जाता है। किंतु वस्तुत. वह बुखार सर्वथा शरीर को छोडकर अलग हुआ नही होता है। उससे सबधित तत्त्व लिवर के पीछे छिप जाते है। समय पाकर पुन आक्रमण कर देते है। इस प्रक्रिया के पुन -पुन होने से रोगी कमजोर बन जाता है एव आगे चलकर वह बुखार घातक भी सिद्ध हो जाता है। इसलिए अनुभवी एव चतुर डाक्टर थर्मामीटर एव नाडी मे बुखार नही आने पर भी उससे निश्चित नही होते, किन्तु बुखार की जड समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते है। बुखार नही होने पर भी लम्बे समय तक औषध देते रहते है। लोभ की भी यही दशा है। वह साधक को गफलत मे पाकर पुन. अपना असर दिखाता है एव बार-बार ऐसा होता रहा तो साधक इतना निराश हो जाता है कि जिससे आगे चलकर इसकी समूल निवृत्ति मे समर्थ नही रह सकता है, अन्ततोगत्वा साधक की साधना के लिए वह घातक ही सिद्ध होता है। अतएव साधनारत साधको को तो बहुत सावधानी बरतने की आवश्यकता है। बाहरी व्यक्तियो एव पदार्थो रूप निमित्तो से उतना खतरा नही है, जितना आन्तरिक विघातको से है, क्योकि वे अन्दर ही पैदा होते है। जो एक स्थान पर पैदा होने वाले होते है वे अधिक खतरनाक हुआ करते है। अतएव साधक को इस विषय मे बहुत जागृति रखने की आवश्यकता है। साधना मे जागृति रखने सम्बन्धी कई उपाय पूर्व मे निर्दिष्ट किये गये है।

इस निर्दिष्ट लोभ के प्रकारो के अतिरिक्त भी कई ऐसे लोभ के प्रकार है जो लोभ से भिन्न परिवेश मे रहते है। वे लोभ के रूप मे सहना पहचाने नही जा सकते हैं। ऐसे लोभो को पहचानने के लिए समीक्षण दृष्टि को अति तीव्र एव चौकन्नी बनानी चाहिए, जिससे सभी प्रकार के लोभो का यथार्थ रूप से समीक्षण हो सके और आन्तरिक धरातल से उनका अस्तित्व समाप्त किया जा सके।

लोभ-समीक्षण करना एव उससे सम्बन्धित मूलो को आत्मा से विलग करना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जिस साधक को इसमे सफलता मिल जाती है। वह मानो समग्र आन्तरिक शत्रुओ को जीतने की क्षमता अर्जित कर लेता है। कोई माने या न माने किन्तु प्रभु महावीर ने जो क्रोधादि को देखने का क्रम उपस्थित किया है, वह अन्तर्विज्ञान की बहुत ही गहराई का है। यह कषाय-चतुष्क सामान्य रूप से कर्म वर्गणा के रूप मे है, किन्तु इनका विशेष स्वरूप विभिन्न प्रकार का है। इस विभिन्न प्रकार के रूप को पहचानना उसकी अनुभूति करना एव उसे निष्कासित करना विशुद्ध आत्म-स्वरूप की उपलब्धि के लिए अति ही महत्त्वपूर्ण, बल्कि अनिवार्य है।

मानव शरीर सामान्यतया औदारिक वर्गणा के पुद्गलो से निर्मित है। इस शरीर से सम्बन्धित कर्मवर्गणा के पुद्गल नामकर्म के अन्तर्गत है। किन्तु नामकर्म का उदय होने पर औदारिक पुद्गलो की शरीर रूप मे परिणत होने रूप जो अभिव्यक्ति हुई है, वह कितनी विशेषताओ को लिये हुए है। त्वचा एव आकार-प्रकार जिस प्रकार विभिन्न रूप से रहे हुए है, वैसे ही आन्तरिक शरीर रचना का भी स्थूल एव सरल भाग तथा सूक्ष्म एव जटिल भाग विभिन्न प्रकार का है। शरीरपिंड की अपेक्षा इन्द्रिय सम्बन्धी अवयव एव इन्द्रियो मे भी आन्तरिक सरचना निर्वृत्तीन्द्रिय की अपेक्षा उपकरणेन्द्रिय का एव नयनो का और पलको के बीच मे रहने वाला श्वेत एवं काली टिकिया का भाग सदेशातून कितना घन एव सूक्ष्मत्व परिणामो मे परिणत है। इसी तरह मस्तिष्कादि भीतरी औदारिक शरीर के अवयवो का अनुमान किया जा सकता है। अर्थात् सामान्यतया औदारिक वर्गणा एक होने पर भी उनके परिणमनो मे कितना

वैज्ञानिक तथ्य है कि आम जनता को ज्ञान कराने के लिए पहले स्थूल तत्त्व का बोध कराया जाता है। उसके अनन्तर उसी जाति के सूक्ष्म तत्त्वो का भी विज्ञान कराया जाता है। प्रभु महावीर तो सर्वोत्कृष्ट विज्ञानवान् एव आत्मा के सपरिपूर्ण शुद्ध स्वरूप के विज्ञाता थे। उन्होने भव्यात्माओ के लिए फरमाया— **"जे कोहदंसी, से माणदंसी, जे माणदंसी, से मायादंसी, जे मायादंसी, से लोभदंसी"** इस क्रम मे 'जो क्रोध को देखता है वह मान को देखता है' ऐसा उल्लेख है। इस उल्लेख से सहज ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि यहाँ 'जे' और 'से' नही लगाकर सीधे ही फरमा देते कि 'कोहदसी, माणदसी' आदि क्योकि मोटी धारणानुसार क्रोध, मान, माया और लोभ के कर्म-स्कध समान माने जाते है। किन्तु ऐसा नही फरमाया। प्रभु महावीर ने 'जे' और 'से' अर्थपूर्वक फरमाया है। इससे स्पष्ट होता है कि जो क्रोध को देखने मे सफल होता है, वह मान को देखने मे सफल होता है। इससे अनुमान होता है कि सजातीय क्रोध कर्म-स्कधो से मान के कर्म-स्कधो मे तारतम्य रहा हुआ है। इस बात को मानने पर ही 'जे' और 'से' की सार्थकता सिद्ध होती है।

साधक को सूत्रानुसार साधना पथ पर आगे बढते हुए लोभ का समीक्षण करना चाहिए। लोभ के भी जितने प्रकार है, उन सभी प्रकारो का समीक्षण करते हुए अनुभूति करनी चाहिए कि यह कर्म-स्कध रूप लोभ आत्म-प्रदेशो से सदा-सदा के लिए विलग हो जाता है, अतएव यह आत्मा का निजी गुण नही है। आत्मा से अलग हो जाने पर वह अनात्मरूप मे सर्वथा जडत्व की श्रेणी मे आ जाता है। जो आत्मा के साथ विकारी भाव से सम्बन्धित होते है एव निजी स्वरूप से विपरीत परिणत होकर फल देते हैं, ऐसे कर्म वर्गणा के स्कधो को आत्मा रूप मे कैसे माना जा सकता है? कर्म वर्गणा के पुद्गल अध्यवसायो के अनुसार आत्मप्रदेशो मे ओतप्रोत होकर एकमेक से हो जाते हैं, लेकिन वस्तुत वे आत्मा के निजी गुणो की तरह साथी नही होते है। ऐसे तत्त्वो से भेद-विज्ञान का धनी साधक अनासक्त रहता है एव इनको उद्वेलित करने वाले पुरुष पर रागद्वेष की परिणति नही लाता है। ऐसा ही साधक सही माने मे अनुभूतिगम्य भेदविज्ञानी-सम्यक्दृष्टि कहलाता है।

लोभ के कर्मस्कध से प्रभावित आत्मा किसी के सत्कार-सम्मान करने से प्रफुल्लित होती है और उसके प्रति अनुराग वाली बनती है। उस समय वह अपने आप को प्रशसा की पात्र मान लेती है। इससे लोभ कर्म-स्कधो मे अभि-वृद्धि होती है एव आत्मा अधिक मलिन बनने लगती है।

जब कोई व्यक्ति उसके सत्कार-सम्मान रूप लोभ मे सहायक नही बनते है, तो उस पर विद्वेष की वृत्ति रखने लगता है एव तत्सम्बन्धी कर्मस्कधो से अधिक लिप्त होता है। वे लोभ के कर्मस्कध इस आत्मा के अनादि कालिक

घोर शत्रु रहे है और नाना विध लोभ के जाल मे चैतन्य देव को फँसाये रखते है। इन कर्मस्कधो को अन्त करण से अहितकर मानने वाले साधक बहुत ही स्वल्प होते है।

एक मार्गदर्शक रूपक

लोभ रूपान्तरणशील होने से रूपान्तरित होता रहता है। ज्ञानी जन बाह्य परिग्रह के रूप मे रहने वाले लोभ का वीभत्स रूप प्रतिपादित करते है तो लोभ उस रूप मे अभिव्यक्त न होकर अन्य रूप को धारण कर लेता है। एक बहुत बडा सम्राट्-सम्राट् पद पर रहते हुए चिन्तातुर, तनावग्रस्त एव अशान्ति के झूले मे झूलता रहता था। उसको क्षण भर भी शान्ति नही मिल पा रही थी। लोगो के वातावरण से ज्ञात हुआ कि इस अशान्ति आदि का कारण राज्य वैभव एव सत्कार सम्मानादि लोभ की भावना है। इसका परित्याग कर दिया जाय तो शान्ति मिल सकती है। कई बडे-बडे साधक परिपूर्ण साधना का अभ्यास करने के बाद समग्र पापो से रहित, सर्वस्व के त्यागी महात्मा बन जाते हैं। वे भी इतने उच्च कोटि के महात्मा होते हे कि जिनको अन्य समग्र प्रकार के लोभ तो दूर रहे, यशकीर्ति, सत्कार-सम्मानादि का भी लोभ नही होता है। कभी उनके मन मे भी नही आता कि मै इतना बडा त्यागी हूँ। मैने सभी प्रकार के लोभ को समाप्त कर दिया है। मुझ जैसा कोई दूसरा त्यागी नही है, इत्यादि भाव भी उनके मन मे नही जगते हैं। वे परमशान्ति, परमानन्द का अनुभव करते रहते हैं। ऐसे महात्माओ के पास जाकर उनके समकक्ष बनने पर आपको भी शान्ति मिल सकती है। किन्तु यह आपके लिए शक्य कैसे हो सकता है? आप इतने वैभव, सत्कार, सम्मान आदि के लोभ से सम्पन्न है। कोई आपका जरा-सा भी तिरस्कार कर दे तो आप उसके लिए यमराज का सा रूप धर लेते हैं। ऐसी स्थिति मे सत्कार-सम्मान के लोभ का हटना बहुत ही कठिन है। अतएव आप सरीखे सम्राट् वैसी शन्ति को पा सके, यह सम्भव नही लगता।

इस पर सम्राट् ने कहा—आप लोग कैसी बात करते है। मै सब कुछ कर सकता हूँ। राज्य-परिवार आदि समग्र का परित्याग कर परिपूर्ण साधु बन सकता हूँ।

विद्वानो ने कहा—राजन्! वैसा करने के लिए पहले वैसी क्षमता अर्जित करिये और वैसी योग्यता प्राप्त हुई या नही इसकी परीक्षा कीजिए। तत्पश्चात् आप वैसा बनने की सोचिए।

इस पर सम्राट् कहने लगा—क्या इस विषयक भी कोई परीक्षा हो सकती है?

उन्होने कहा—हाँ राजन्! इसके लिए राज्य-परिवार आदि समग्र का

परित्याग कर पहले योग्यता की परीक्षा लेने वाले आश्रम मे भर्ती होइए एव आश्रम के प्रधान से योग्यता की परीक्षा का प्रमाण-पत्र प्राप्त करिए। तभी परिपूर्ण साधु बनने की अवस्था आ सकती है।

सम्राट् ने कहा—ऐसा आश्रम कहाँ है ?

तब उन्होने कहा—अमुक स्थान पर ब्रह्मचर्याश्रम है। उस आश्रम मे आप पहुँचकर साधु-जीवन की योग्यता विषयक निर्णय करवाइये।

सम्राट् ने समग्र बाह्य परिग्रह का त्याग किया। उससे सम्बन्धित लोभ का त्यागकर सीधी-सादी पोषाक मे, जूते चप्पलो को छोडकर आश्रम मे पहुँचा। आश्रम के अन्य अधिकारियो से कहने लगा कि आश्रम के मुख्याधिकारी को सूचना दो कि एक सम्राट् समग्र धन-धान्यादि वैभव का त्याग कर आश्रम मे आया है। वह आपसे मिलना चाहता है। छोटा अधिकारी मुख्याधिकारी के पास पहुँचा। उसकी अनुमति पाकर सीधी-सादी पोषाक वाले सम्राट् को मुख्याधिकारी के पास ले गया। वहाँ मुख्याधिकारी पूर्वस्थिति मे ही बैठा हुआ था। इस भूतपूर्व सम्राट् का कोई सत्कार-सम्मान नही कर अपने कार्य मे निमग्न रहा। सम्राट् ने विचार किया कि इतना बडा त्याग करने वाला मैं यहाँ आया हूँ। मेरा सत्कार-सम्मान करना तो दूर, मेरी तरफ देख भी नही रहा है। इसको मेरे त्याग का पता है या नही ? क्या छोटे कर्मचारी ने पूरी बात नही बतायी ? इस प्रकार मन-ही-मन अनेक कल्पनाएँ करता हुआ बोला—आप मेरी तरफ देख भी नही रहे है ? मै कितना बडा त्यागी हूँ। आपके पास मै परिपूर्ण साधुता का प्रमाण-पत्र लेने आया हूँ। आप अन्य काम को गौणकर शीघ्र प्रमाण-पत्र लिख दीजिए जिससे मैं परिपूर्ण महात्मा के पास जाकर साधु का परिवेष स्वीकार कर सकूँ। इस प्रकार आदेश पूर्ण अभिमान सूचक शब्दो को सुनकर कर आश्रमपति ने कहा—महानुभाव ! अभी आपमे परिपूर्ण साधु जीवन की योग्यता नही आयी है। उस योग्यता के बिना परिपूर्ण साधु बनने का प्रमात्र-पत्र नही दिया जा सकता। आप फिलहाल आश्रम से कुछ ही दूरी पर अन्य स्थान है, वहाँ बारह मास तक रहे और परिपूर्ण साधु जीवन की योग्यता प्राप्त करे। उसके पश्चात् मेरे पास आएँ।

इस आदेश को पाकर सम्राट् के मन मे खूब ऊँचे नीचे विचार आये। कुछ त्यौरी भी चढ गई। मन-ही-मन कल्पना करने लगा—यह कैसा परीक्षक है ? इसे मनुष्य को पहचानने की क्षमता भी नही है। इतना सब कुछ त्यागकर आया हूँ। मेरे समान त्याग करने वाला अन्य कोई साधक नही है। यह परीक्षक स्वय भी मेरे जैसा त्यागी नही है। फिर यह कैसे क्या योग्यता की परीक्षा करता है ! बडी विचित्र बात है। यदि मै अभी उस परिवेष मे होता तो इसको मजा चखा देता। लेकिन वह तो सब छोड आया हूँ। मैं सोचता था कि इतना

वैभव छोडने से यह परीक्षक मेरा वहुत सत्कार-सम्मान करेगा, मुझे आदर देगा और जाते ही योग्यता का प्रमाण-पत्र लिख देगा। फिर मे परिपूर्ण साधुजी के पास जाकर परिपूर्ण साधु जीवन अगीकार करके चलूँगा। उस समय पहले के जितने भी साधु-साध्वी है, वे मेरा वहुत सत्कार-सम्मान करेंगे, मुझे बहुमान देगे क्योकि मैं सम्राट् पद का परित्याग कर आया हूँ। इसलिए अपमान और तिरस्कार तो कोई करेगा ही नही। उस अवस्था मे मैं राजकीय अवस्था से भी अधिक सत्कार-सम्मान आदि पाऊँगा। इत्यादि भावनाओ के साथ आशाओ का अम्बार लेकर मैं चल रहा था, किन्तु इस नाकुछ परीक्षक ने मुझे अपात्र ठहरा कर मेरी सभी आशाओ पर तुषारापात कर दिया।

इन साधुओ ने ऐसा कैसा परीक्षक नियुक्त कर रखा है, जिसमे मानव की योग्यता पहचानने की क्षमता ही नही है। पर क्या किया जाय! वर्तमान परिस्थिति मे मैं इसको हटा भी तो नही सकता हूँ। इस समय तो जैसे-तैसे इससे प्रमाण-पत्र लेना ही होगा। इसके सिवाय अन्य कोई चारा नही है। परिपूर्ण साधु जीवन का मुझे प्रमाण-पत्र मिल जाने पर परिपूर्ण साधु वन जाऊँगा। उसके पश्चात् सारे साधु समाज मे मै प्रतिष्ठित परामर्शदाता माना जाऊँगा। उसी परामर्श मे इस परीक्षक की पूरी खवर लूँगा। ऐसी खवर लूँगा कि यह इस पद पर तो नही रहेगा सो नही ही रहेगा किन्तु अन्य सामान्य पदो पर भी नही रह पायेगा। ससार मे भी इसकी मिट्टी पलीद होती रहेगी। यह सब मेरे हाथ की वात होगी। इन विचारो की झलक उसकी आकृति पर दमक रही थी। वह आवेश पूर्ण टेटी निगाह से परीक्षक को देखता हुआ निर्दिष्ट स्थान पर चला गया। परीक्षक ने भी इसकी आकृति एव दृष्टि से कुछ जान लिया। लेकिन वह अपनी स्थिति पर कायम रहा। सोचा—मेरे लिए चाहे यह कुछ भी करे, मै तो अपने कर्तव्य का भलीभाति प्रामाणिकता पूर्वक पालन करूँगा, उसी कर्तव्यनिष्ठा से इस कार्य को सपादित करता रहूँगा। ऐसा सोचकर समभाव पूर्वक अपने नियमित कार्य मे सलग्न हो गया।

वह सम्राट् निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचकर साधना सम्वन्धी कुछ पुस्तकें पटने लगा। कुछ वहाँ के निरीक्षक व्यक्तियो से वार्तालाप करता और अधिक से अधिक समय साधना की योग्यता प्राप्त करने मे लगाता। इससे उसे कुछ ज्ञान हुआ। सोचने लगा—मैंने परीक्षक की आज्ञा सुनकर परीक्षक के विषय मे जो सकल्प-विकल्प किया, मन-ही-मन भले-बुरे की कल्पना की, साथ ही उसकी मिट्टी पलीद करने की सोची, यह मेरी वहुत वडी भूल हुई। मुझे ऐसा नही सोचना चाहिए था। किन्तु कल्पित सम्मान के लोभ ने मुझे वेहोश कर दिया और मै कुछ-का-कुछ चिन्तन कर वैठा। यह मेरी तामसिक वृत्ति का परिणाम था। मैं यह सोचना क्यो भूल गया कि परीक्षक क्या करे! परीक्षक को तो नृप ने नियुक्त कर रखा है। इसको तो कुछ लेना-देना था नहीं। परीक्षक

ईमानदारी से कडो परीक्षा लेकर के ही प्रमाण-पत्र देता है। वही परीक्षक सही परीक्षक होता है। किन्तु जो परीक्षक किसी वैभवशाली व्यक्ति विशेष को देखकर अपने कर्तव्य को भूल जाता है एव दूसरे के प्रभाव मे आकर प्रमाण-पत्र दे देता है, वह वस्तुत सच्चा परीक्षक नही होता है। वह समाज को धोखा देने वाला हो सकता है। ऐसा परीक्षक कभी भी सही कर्तव्य का पालन कर सकता। छोटे कर्मचारी ने मेरा पूर्ण परिचय दे दिया फिर भी मेरे प्रभाव को देखकर उन्होने प्रमाण-पत्र नही दिया, किन्तु योग्यता प्राप्त करने की शिक्षा देकर मुझे यहाँ भेजा। यह उन्होने योग्य ही किया। अपने पद की प्रतिष्ठा के अनुरूप ऐसा ही करना चाहिए। यह परीक्षक सही मार्ग पर है। मै मार्ग भूला और मैने नही करने योग्य कल्पना की। इसलिए मै परीक्षा मे उत्तीर्ण नही हुआ।

साधु जीवन को योग्यता एव प्रतीकार की भावना, ये दोनो एक साथ नही रह सकती। यदि कोई व्यक्ति निष्ठापूर्वक कर्तव्य का पालन करने वाला हो और उसके विषय मे दुर्विचार किया जाए तो वह साधना की योग्य भूमिका कैसे बन सकती है ? और यदि कोई ऐसे व्यक्ति पर मन मे उतार-चढाव लाकर रोष करता है तो वह साधना के योग्य नही रह सकती। इस प्रकार की दोनो विरोधी भावनाएँ एक साथ नही रह सकती। तलवार की म्यान मे या तो सर्प रह सकता है या तलवार रह सकती है। सर्प और तलवार दोनो एक साथ नही रह सकते। अधकार एव प्रकाश एक स्थान पर नही रह सकते। अधकार रहता है तो प्रकाश नही और प्रकाश रहता है तो अन्धकार नही। यही स्थिति साधना की योग्यता एव योग्य व्यक्ति का निष्कारण तिरस्कार की भावना मे है। ये दोनो मानसिक धरातल पर एक साथ नही पनप सकती है। अच्छा हुआ कि मुझे इस स्थान पर आने से सबोध हुआ। अब मैं ऐसे परीक्षक का कभी तिरस्कार नही करूँगा। वह मेरा कितना ही तिरस्कार करे लेकिन मैं उसकी आज्ञा का लोप नही कर सकता। तभी मुझ मे परिपूर्ण साधुता की योग्यता का उदय हो सकता है। अतएव मैं इस भावना को खूब दृढीभूत बनाऊँ। बारह महीने पूर्ण होने के बाद परीक्षक की आज्ञा के अनुसर उसके पास जाऊँगा, तब वह मुझे अवश्य योग्यता का प्रमाण-पत्र लिख देगे। इस आशा से वह बारह महीने तक इसी प्रकार का अभ्यास करता रहा। ठीक तिथि पर निश्चित समय मे परीक्षक की ओर चल पडा। परीक्षक ने भी गुप्त तरीके से उसकी हलचल का ज्ञान प्राप्त कर लिया एव उसकी यत्किचित् परीक्षा करने के लिए एक व्यक्ति को सकेत दे दिया।

सम्राट् जब आश्रम के द्वार के समीप पहुँच रहा था तब एक हरिजन महिला ने झाड़ू से उसका पैर थोडा सा सस्पर्श कर दिया। फिर क्या था ? वह एक दम उछला और नही बोलने योग्य शब्द बोलने लगा और उसको पीटने के लिए आगे बढा। पर वह महिला भग गयी जिससे वह पिटाई नही कर

सका। इस व्यवहार की जानकारी भी उसके पहुँचने से पहले परीक्षक ने कर ली थी। बाद मे सम्राट् परीक्षक के सामने जाकर खडा हुआ। वह आश्रम के पास हुए तिरस्कार मे तिलमिला रहा था, मन मे कल्पनाएँ उठ रही थी। जब मै राज्य मे था तब महत्तरानी तो क्या, बडे बडे राजा महाराजा भी मेरा तिरस्कार तो दूर, सत्कार सम्मान करते थे। और आज इस नाकुछ व्यक्ति ने, जिसकी मानव समाज मे कोई कीमत नही, तिरस्कार किया। क्या किया जाय ? इस जहर की घूट को पीकर भी प्रमाण पत्र प्राप्त करूँ। ऐसा सोचते हुए उसने परीक्षक से कहा-आपकी आज्ञानुसार बारह महीने तक योग्यता प्राप्ति की साधना करके आया हूँ। अब मुझे परिपूर्ण साधुता का प्रमाण पत्र दीजिए। प्रत्युत्तर मे शान्ति एव धैर्य पूर्वक किन्तु निर्भयता के साथ उन्होने कहा—अभी तो खूखार पशु की योग्यता है। साधु जीवन की योग्यता नही है। अतएव प्रमाण-पत्र नही मिल सकता। बारह महीने और साधना करो।

सम्राट् के मन मे गत बारह महीने की साधना से परीक्षक के प्रति आदर एव बहुमान की भावना बन चुकी थी इसलिए उस उत्तर को सुनकर पहले की तरह परीक्षक के ऊपर ऊ ची-नीची भावना नही लाता हुआ अपनी ही त्रुटि को खोजने के लिए 'तथास्तु' कह कर लौट गया। उसी स्थान पर जाकर अन्य का दोष निकालने की अपेक्षा अपना ही अन्तरवलोकन करने लगा और सोचने लगा कि मैंने गत बारह महीनो की साधना में परीक्षक के विषय मे तो सद्भावना बनायी किन्तु अन्य द्वारा होने वाले अनादर की स्थिति को सहन कर सकने की योग्यता सपादित नही की। आदर-सत्कार का लोभ मेरे सिर पर अब भी इतना सवार हो रहा है कि मैं बारह मास की साधना को भूलकर सम्राट् पद एव साम्राज्य के त्याग के अभिमान को शमित नही कर पाया। वस्तुत महत्तरानी के झाडू लगाने से मै खूखार पशु जैसा बन गया। उससे मेरा क्या बिगड गया था ? वस्तुत मेरी साधना परिपक्व नही हुई। इसी कारण मे उसे मारने दौडा। अब मै ऐसी परिस्थिति मे भी प्रशान्त रहूँगा।

ऐसा सोचकर वह बारह मास पुन व्यतीत करता है। वह निश्चित दिन और ठीक समय पर प्रसन्नतापूर्वक परीक्षक के आश्रम की ओर बढ रहा था। सोच रहा था—वस्तुत साधु जीवन की योग्यता अब आ पायी है। अब की बार परीक्षक प्रसन्न हो करके मुझे प्रमाण-पत्र अवश्य लिख देंगे। इन्ही आशाओ के साथ मस्ती मे झूमता हुआ गजगति से आगे बढ रहा था। इधर परीक्षक ने उन महत्तरानी को दूसरा सकेत दिया। महत्तरानी कहने लगी—बाप जी! अन्नदाता! पहले भाग्य योग से मैं बच गयी किन्तु अब की बार तो आपके इशारे के अनुसार कार्य करूँगी तो मेरे प्राण-पखेरू समाप्त हो जायेंगे। अन्य कोई आदेश दीजिए। परीक्षक ने कहा—तुम घबराओ मत, तुम्हारे प्राण कोई लूटने वाला नहीं है। मैं कहूँ सो करो। महत्तरानी की इच्छा न होने पर

भी वह परीक्षक की आज्ञा टाल नही सकी । उसने सकेतानुसार आश्रम द्वार के समीप आते हुए सम्राट् के पग पर उसने अशुचि से भरा हुआ झाड़ू छुआ दिया ।

सम्राट् एक दम तमतमाया और हुँ हुँकार करता हुआ धीरे स्वर मे कहने लगा—मैं सम्राट् पद पर था तब ऐसा करने पर मालूम होता । मारने के लिए आगे नही बढा । सोचा कि अब की बार मैने मारने के लिए नही कहा, न उसके पीछे ही भगा । यह खामोशी मेरी योग्यता मे सहायक होगी और अवश्य ही मुझे प्रमाण-पत्र दिलाएगी । ऐसा विचार करता हुआ परीक्षक के पास पहुँचा । परीक्षक ने आँख उठाकर देखा और पुन अपने कार्य मे लग गया । अबकी बार सम्राट् के स्वर मे आदेश नही था किन्तु प्रार्थना का स्वर था । उसने निवेदन करते हुए कहा—अब मै उस योग्य बन गया होऊ तो प्रमाण-पत्र देने की कृपा करे । परीक्षक ने पूर्व विधि अनुसार प्रत्युत्तर मे कहा—तुम्हारे भीतर अभी भी सर्प की तरह फु कार अवशिष्ट है । एक वर्ष और साधना करो । 'तथास्तु' कह कर सम्राट् चल पडा । अपनी ही त्रुटियो का अवलोकन करता हुआ उसी स्थान पर तृतीय वर्ष व्यतीत करने लगा ।

उस काल अपने अन्तर की वृत्तियो का अवलोकन करते हुए वह इस गहराई तक पहुँचा कि मैने त्याग अवश्य किया है मगर उस त्याग से प्राप्त होने वाले सम्मान सत्कार का लोभ वासना रूप मे अब भी बना हुआ है । इसलिए तो उस महत्तरानी पर कुछ बडबडा गया । यह मेरी लोभ वृत्ति का परिणाम प्रकट हुआ ।

हे आत्मन् । तुमने जब बाह्य परिग्रह का त्याग सदा के लिए कर दिया तो समग्र परिग्रह की जड इस लोभ को अन्दर क्यो छिपा रखा ? सत्कारादि की भावना का रूपान्तरित लोभ तुम्हारे भीतर अठखेलियाँ कर रहा है । यह कितनी बडी विचित्र बात है । लोकोक्ति है कि सूई की नोक मे हाथी निकल गया किन्तु पू छ अटक गयी । वही स्थिति मेरी बन रही है । प्राय सभी कुछ त्याग देने पर भी इस प्रकार का लोभ किस स्थान पर आसन जमाये बैठा है । उसका सम्यक् समीक्षण किये बिना पिंड छूटना कठिन है । असावधानी वश बाहरी दृष्टि मे नगण्य लोभ भी भीतर आसीन रहा तो वह नौका मे बडे छिद्र का काम करेगा । छोटे से छिद्र की भी नाविक उपेक्षा करता है तो एक न एक दिन धीरे-धीरे वह बडा होता हुआ सारी नौका को ले डूबता है ।

उसने विचार किया—यही दशा अधिकाश साधको की होती है । इसीलिए साधना मे कई साधक परिपूर्ण सफल नही हो पाते । मुझे उनको नही देखना है । उन्ही-उन्ही को देखता रहा और उनसे प्रेरणा लेकर आपका परिमार्जन नही किया तो उनका कुछ बिगडे या नही पर मेरा पहले बिगाड होगा । मानव-

जीवन की उपलब्धि आत्मा को अध पतन की ओर ले जाने के लिए नही वरन् आत्मोत्थान के लिए है।

मेरे आत्मोथान मे कतिपय सदस्यो का परिवार एव राज्य, वैभवादि बाधक तत्त्व आडे आ गये थे, किन्तु तीव्र पुण्य के योग का सबल मुझे मिला और मै उन सभी से पिंड छुडा कर साधना की भूमिका पर आया। अब इस साधना मे मुझे शक्ति भर सत्पुरुपार्थ करना चाहिए। मानापमान, सत्कार-तिरस्कार बहुत बडे राज्य वैभव के परित्याग का अभिमानादि क्षुद्र भावो को जीवन से सर्वथा विदाई दे देना चाहिए और मैं दे ही दूगा। जब इतना सब कुछ हो गया तो अवशेप लोभ को भी अन्त करण से समाप्त करके ही रहूँगा। यह मेरा प्राण-प्रण के साथ दृढ सकल्प है। इसी के अनुरूप सत्पुरुषार्थ मे आस्था है। फल अवश्यम्भावी है किन्तु फल की आकाक्षा नही है।

सद्भावना पूर्वक सत् कार्य करते हुए कदाचित् कार्य के विपरीत भी फल आया तो भी खिन्नता नही होगी। यह सोचकर सतुष्ट रहूँगा कि जो कुछ बनता है वह मेरे अच्छे के लिए बनता है। मुझे हर हालत मे प्रसन्नता पूर्वक प्रमुदित रहना है। विकट से विकट परिस्थितियाँ क्यो न सामने आएँ, विविध प्रकार की आपत्तियाँ एव अन्त करण को कलुषित करने वाला वातावरण भी क्यो न उपस्थित हो, मैं उन सभी परिस्थितियो मे सदा व्यस्त रहता हुआ निज स्वरूप को विस्मृत नही करूँगा। जिस प्रकार सृष्टि के मूलभूत प्राकृतिक तत्त्व सदा एक रूप रहते है। यथा आकाश सबको अवकाश देता है। गदी से गदी और अच्छी से अच्छी परिस्थितियो मे समरस रहता है, अपने अन्दर विकृति नही आने देता है। वैसे ही मेरा चैतन्य देव हर हालत मे समरस रहे। पृथ्वी सबको आधार देती है। उसके खनने करने वाले को रोकती नही और न उदास होती है। न रोती एव चिल्लाती ही है। पुष्प चढाने वाले एव नमन करने वाले पर प्रसन्न नही होती, आशीप ही देती है। अशौच पदार्थ के ढेर लगाने वाले एव अन्यान्य प्रकार से अपमान करने वाले व्यक्तियो पर रुष्ट नही होती, सभी को अपने-अपने कार्य मे सहायक बनने के लिए समरसता का परिचय देती है। मैं भी इस जीवन मे पृथ्वी के समान ही नही किन्तु उससे भी दो कदम आगे बढ कर समता का रस विश्व को पिलाऊँगा एव समीक्षण-दृष्टि से सन्मार्ग प्रशस्त करता हुआ अपने आपको परम सुख और परम शान्ति मे तन्मय रखता हुआ सदा-सदा के लिए चिरस्थायी समरसता की अवस्था लाने के लिए सत्पुरुपार्थ से कभी भी पीछे चरण नही रखूगा।

वह भूतपूर्व सम्राट् इस प्रकार विविध चिन्तनो के साथ अनेकानेक आन्तरिक अनुभूतियो का आस्वादन करता हुआ लोभादि अवशेष विकारो का समीक्षण दृष्टि पूर्वक परिमार्जन करने लगा। एक वर्ष का समय कब कैसे व्यतीत हो गया, कुछ पता ही नही चला। उसे लगा मानो स्वल्प ही समय

व्यतीत हुआ हो। जब महीने एव वार, तिथि का स्मरण आया तो ज्ञात हुआ कि बारह महीने की अवधि समाप्त हो चुकी है। परीक्षक की आज्ञा की अवहेलना रूप स्खलना न हो जाए अतएव निश्चित समय पर उनके समीप पहुँचना ही है। सिर्फ उपस्थित होना है। अव निवेदन कुछ नही करना। वे समर्थ व सच्चे परीक्षक है। योग्य समझेगे तो स्वय प्रमाण पत्र दे देगे, अन्यथा जो आज्ञा देगे उस को स्वीकार कर जागरूकता के साथ चलू गा। इन्ही भावनाओ को दृढीभूत बनाकर आश्रम के प्रधान द्वार की ओर गतिशील वना। परीक्षक ने उसी महत्तरानी को इस बार भी सकेत दिया। उस सकेत को पाकर वह दहल उठी। उसके दिल की धडकन तेज हो गयी। नेत्रो से अश्रु-मुक्ता झरने लगे। कहने लगी—अन्नदाता, दो वार उनकी आशातना की है। अव जो सकेत दे रहे है इससे मेरी क्या दशा होगी? मैं समाप्त हो गयी तो वाल-वच्चो का क्या होगा? परीक्षक ने कहा-तुम घवराओ मत। तुम अपने मन से कुछ नही कर रही हो। मेरे कहने से कर रही हो। तुम्हारा वाल भी वाका नही होगा। मैं सब कुछ सभाल लू गा।

परीक्षक के आश्वासन-वचनो को सुनकर वह आगे वढी एव अशुचि की टोकरी को सिर पर रखकर आश्रम के मुख्य द्वार पर प्रवेश करने के पूर्व ही सम्राट् के ऊपर अशुचि का टोकरा उँडेल दिया।

सम्राट् शान्त भाव के साथ मधुर शव्दो से कहने लगा—वहिन! तुम बडी उपकारी हो। मेरे मन मे जो कचरा अवशेष रहा है, जो गदे विचार एव त्याग तथा सम्मान आदि के लोभ का अश भीतर जमा हुआ है, उसको बाहर निकालने मे तुमने बहुत बडी मदद की है। यह मेरे ऊपर वहुत वडा उपकार हुआ। आपको कष्ट तो जरूर हुआ होगा, उसके लिए मै क्षमा प्रार्थी हू। पर मेरे आन्तरिक जीवन की हित-साधना हुई है। शरीर के ऊपर दुनिया की दृष्टि मे यह पदार्थ दिखते है, दुनिया इन पदार्थों से घृणा करती है, किन्तु वास्तव मे यह घृणा जैसा कोई प्रसग नही है। यह भी पुद्गल की जाती है। भीतर बहुत रहा हुआ है। दुनिया उससे घृणा नही करती है लेकिन बाहर आने पर घृणा करती है। यह तात्त्विक दृष्टि नही है। पदार्थों का अपना-अपना स्वभाव है। ऐसा कहकर उसने कपडे पर लगी अशुचि को अन्यत्र जाकर साफ किया। फिर परीक्षक के पास पहुँचा। परीक्षक ने कहा—ठीक समय पर नही आए। विलम्ब क्यो किया? तब सम्राट् ने निरभिमान एव शान्त स्वर मे कहा—महानुभाव! आ तो समय पर ही रहा था किन्तु बीच मे ही अन्तराय का प्रसग आ गया। इसलिए थोडा विलम्ब हो गया, क्षमा करे। इस धृष्टता के लिए क्षमा प्रदान करे।

परीक्षक ने कहा—कहिये, क्या कहना है? सम्राट् कहने लगा—मैं आपके चरणो मे उपस्थित हुआ, आपने साधना का आदेश दिया तदनुसार तीन वर्ष

समाप्त हो चुके है। अब आपकी क्या आज्ञा है? परीक्षक ने अपने स्थान को छोड़ते हुए उनका सत्कार किया। कहा-अब आपने परिपूर्ण साधु जीवन की योग्यता प्राप्त कर ली है। अब तो आपका जीवन ही प्रमाण पत्र है। मेरे द्वारा लिखा गया कागज का टुकड़ा कोई महत्त्व नही रखता है। फिर भी सघ ने यह काय मुझे सौप रखा है, एतदर्थ कर्तव्य दृष्टि से लिख देता हूँ। आप दुनिया के वदनीय, पूजनीय बनने लायक है। कर्तव्य वश मुझसे जो अवज्ञा हुई, उसके लिए मै अन्त करण पूर्वक क्षमा प्रार्थी हूँ। मैने आपको अपमानित करने के उद्देश्य से कुछ नही किया। केवल परीक्षण के लिए और आपके समता भाव के अभ्यास के लिए तीन वर्ष व्यतीत किये।

राज्य, वैभवादि समग्र वस्तुएँ परित्याग करके आने पर भी मैं इतना त्याग करके आया हूँ" इस प्रकार का गौरव रूप लोभ आपके मन मे जमा हुआ था वह जब तक मन मे रहता है तब तक आन्तरिक साधना की योग्यता अधूरी रहती है। घासलेट के वर्तन की बदबू समाप्त करने के लिए वर्तन से घासलेट निकालना ही पडता है। उसको अन्य वर्तन मे छोडना पडता है। अन्य आवश्यकता वाले लोगो के वह काम आये, इस दृष्टि से उसका परित्याग करना नितात आवश्यक है ही। क्योकि उसका परित्याग किये विना उस वर्तन की बदबू समाप्त नही की जा सकती। घासलेट खाली हो जाने पर रही हुई बदबू को उड़ाया जा सकता है।

यह एक देशीय रूपक है। किंतु इससे यह प्रेरणा लेनी चाहिए कि आध्यात्मिक साधना के इच्छुक व्यक्ति को अपने आत्म-स्वरूप को स्वच्छ एव निर्मल बनाने के लिए सबसे पहले समग्र प्रकार के बाह्य एव आभ्यन्तर परिग्रह का परित्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। गृहस्थाश्रम मे रहने वाले व्यक्ति के मस्तिष्क मे एव विचारो मे परिग्रह सबधी लोभ पूर्ण रूप से व्याप्त रहता है। तभी तक धन-धान्यादि, राज्य-वैभव आदि उसके पास रहते हैं। उस पर वह स्वामित्व रखता है एव ममत्व भाव को लेकर उन्हे सहेजता रहता है। ज्ञान के साथ अनुष्ठान बाहर का परिग्रह कम हो या अधिक, किन्तु तृष्णा रूप लोभ का अम्बार तो मन, वचन, काया मे भरा पडा रहता है। इस कारण वह लोभ को छोड नही पाता है। किन्तु ज्ञानी जन एव विवेकशील व्यक्ति कहते रहते है कि यह आध्यात्मिक जीवन को जानता या समझता नही है, इसीलिए चौबीसो घटे लोभ के अधीन होकर तृष्णा की ज्वालाओ मे रात-दिन जलता रहता है। यह धर्म-कर्म कुछ नही जानता है। यह लोभ का कीडा है। इसी मे आसक्त रह करके मर गया तो क्षुद्र जगत् के रूप मे भी पैदा हो सकता है, इत्यादि। अपनी-निंदा एव अवर्णवाद को सुनकर वह मन ही मन सोचता है कि क्या किया जाय? इस निंदा से छुटकारा कैसे मिले? कैसे मैं इसकी दृष्टि मे श्रेष्ठ कहलाऊ और इन सबको भोंदू बनाऊँ? इसके लिए दो उपाय हैं—एक तो

लोभ सबधी समग्र परिग्रह का त्याग कर अन्तर मे रही हुई वासना को समाप्त करूँ, जिससे यही नही, सारी दुनिया महात्मा कह के पुकारेगी। किन्तु यह कार्य अति ही कठिन है। इस के लिए सम्यक्ज्ञान पूर्वक समग्र परिग्रहो का सपरित्याग कर महाव्रतो को अगीकार कर के चलना पडता है। ऐसी मेरी तैयारी नही है, क्योकि इस लोभ एव लोभ सबधी परिग्रह मे मैं इतना आसक्त हूँ कि जीवन को समाप्त कर सकता हूँ किन्तु इस तृष्णा मे मोच नही आने दे सकता। ऐसी परिस्थिति मे दूसरा मार्ग यह है कि ऊपर से आध्यात्मिक जीवन की बडी-बडी बाते करूँ। कुछ ऐसे ढग का साहित्य खोजू अथवा मै स्वय निर्मित कर लू कि जिसमे भेद-विज्ञान सबधी बातो का प्राचुर्य हो। ऐसे ही ग्रन्थो को अध्यात्म धर्म के नाम से प्रसारित करूँ और लोगो से कहूँ कि वास्तविक सच्चा धर्म तो आत्मा को समझ कर उसमे रमण करना है। ऐसा धर्म कोई बिरले ही सद्गुरु बता सकते है। आजकल ऐसे सद्गुरुओ के दर्शन होना अति ही कठिन है। जितने भी सद्गुरु के नाम से सिद्ध है वे सब सच्चे सद्गुरु है। वे त्याग की बातें करते है। यह त्यागो, वह त्यागो, अमुक व्रत लो। अमुक नियम का पालन करो। ब्रह्मचर्य व्रत लो। ये सब बातें बेकार है। यह सब जड क्रिया-काण्ड है। इनसे आत्म-धर्म प्राप्त नही होता है। आत्म-धर्म मे तो सिर्फ आत्मा का ज्ञान कर लेना ही पर्याप्त है। आत्मा का ज्ञान हो जाने के बाद कुछ भी खाओ। कुछ भी पीओ। कितना ही पाप करो। वह इस आत्मा को नही लगता है। अतएव पाच इन्द्रियो सबधी विषय का उपभोग करते हुए धन-वैभव परिग्रहादि रखते हुए भी मोक्ष प्राप्त हो जाता है। बस यही सच्चा धर्म है। वे यह भी कहते है—साधु धर्म, श्रावक धर्म, विविध तपोऽनुष्ठान करने की कोई आवश्यकता नही है। जो सिर्फ आत्मा का ज्ञान करके चलता है वही सच्चा आत्म-धर्म है।

ऐसा प्रचार-प्रसार करने से कई व्यक्ति, जो विषय कषाय से अपने आपको विलग करना नही चाहते परन्तु श्रेष्ठ बने रहने या बनने की आकाक्षा रखते है, वे सब इसमे सम्मिलित हो जायेगे। क्योकि "माल खाना और वैकुण्ठ जाना" यह किसे पसन्द नही आयेगा ? यह मार्ग मेरे आन्तरिक दुर्गणो और विकारो को छिपा सकेगा और जो मेरी निदा हो रही है, वह भी बन्द हो जायगी। निदा करने वालो को बहुत आडे हाथो लिया जा सकेगा। उनसे कहा जा सकेगा कि तुम धर्मात्मा नही, ढोगी हो। तुम्हे आत्म-ज्ञान नही है।

सच्चा आत्मज्ञानी एव धर्मात्मा मैं हूँ और मेरे साथी है। बस, ऐसा वायुमण्डल बनने से मेरी लोभ सबधी तृष्णा बरकरार रहेगी एव उसके अधीन होकर छल-कपट धूर्तता कितनी भी करनी पडे, करता रहूँगा। दो चार दस व्यक्ति इकट्ठे होगे वहा आत्म-धर्म की चर्चा करता रहूँगा। जनता मुझे समझेगी कि वस्तुतः यह धर्मात्मा है। यह ऊँची-ऊँची बाते करता है। इसका

जीवन भी वैसा ही ऊंचा होगा। इस प्रकार की कल्पनाओं का ताना बाना बुनकर तदनुसार वह चल पड़ता है, जिससे उसको लोभ और उससे संबंधित पदार्थों के त्याग के लिए कोई कह ही न सके। ऐसे पुरुष वस्तुतः दंभी होते हैं। अपने दुर्गुणों को एवं आसक्ति को आत्म-धर्म के नाम से छिपाने का प्रयास करते हैं। ऐसे लोग भद्रिक जनों को धोखा दे सकते हैं किन्तु वास्तविक विवेक-शील वीतरागानुयायी पुरुषों को तथा विशिष्ट ज्ञानियों को धोखा नहीं दे सकते।

किन्तु ज्ञानीजन ऐसे पुरुषों की चालाकी को समझ जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के कपट को अनावृत करने के लिए स्पष्ट उद्घोषणा करते हैं कि सच्चे आत्म-धर्म की बात करने वाला पुरुष कभी भी लोभ संबंधी परिग्रह आदि को अपने अन्तःकरण में रखना नहीं चाहता। आत्म-धर्मीजन उनका सपरित्याग कर समग्र विश्व की आत्मा को अपनी आत्मा के तुल्य समझकर 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'' का सिद्धान्त जीवन में ओत-प्रोत करते हुए, समग्र पाप के कार्यों से विलग रह कर, महाव्रतादि अंगीकार कर आध्यात्मिक साधना में तन्मय होते हुए, समता भाव के साथ बारीक लोभ को भी समीक्षण दृष्टि से निष्कासित कर अपनी आत्मा को परम पवित्र बनाने के सत्पुरुषार्थ में लग जाते हैं। वे जानते हैं कि जब तक सीमित परिवार को एवं वैभव आदि जड़ पदार्थों के रूप पामलेट को अन्तर में उँडेलूंगा नहीं तब तक मैं इन सबकी आन्तरिक लोभ का समीक्षण नहीं कर पाऊंगा। यही कारण है कि तीर्थंकर माता के गर्भ में ही तीन ज्ञान से सम्पन्न होते हैं और सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर नाम-कर्म की पुण्य प्रकृति को लेकर माता की कुक्षी से बाहर आते हैं, विशाल वैभव के स्वामी भी होते हैं। सार्वभौम छः खण्ड के स्वामित्व के साथ चक्रवर्ती पद का उपभोग करते हुए भी उसमें साधारण व्यक्तियों की तरह लिप्त नहीं होते। फिर भी वे अपनी विशिष्ट ज्ञान-शक्ति से जानते हैं कि इस सीमित वैभव एवं कुटुम्ब परिवार में रहते हुए शुद्ध आत्म धर्म को अभिव्यक्त नहीं कर पाऊंगा। अतएव मुझे सीमित वैभव एवं सीमित परिवार तथा सत्कार-सम्मानादि लोभ संबंधी आकांक्षाओं का परित्याग कर इस विशाल परिग्रह का यथावसर जनता में सवितरण कर अकिंचन परिग्रह रहित होता हुआ जगत् के समग्र प्राणियों को अभयदान दूं और आन्तरिक सूक्ष्म लोभ को समीक्षण दृष्टि से निष्कासित कर उससे भी चेतना से विलग करूं। ऐसा विचार कर वे सब सावद्य योगों का त्याग कर साधु जीवन के रूप में चल पड़ते हैं। देवादि परीषहोपसर्गों के बीच स्वेच्छा पूर्वक पहुंचते हैं और उन विविध प्रकार के परीषहों तथा उपसर्गों को समभाव से सहन करते हुए भीतर समीक्षण दृष्टि से प्रकाशित करते हैं कि कहीं शरीर संबंधी लोभ की माया पूर्ण रूप से रह तो नहीं गयी है। यदि उनको लगता है कि शरीर संबंधी लोभ की जो सूक्ष्म वासना अन्तःकरण में है तो उसको भी वे निष्कासित कर

आध्यात्मिक श्रेणियो मे ऊपर चढते हुए लोभ बनाम समग्र मोह को विनष्ट करने पर समग्र ज्ञान, दर्शन और चरित्र के आवरण को हटाते हुए केवल ज्ञान और केवल दर्शन आदि परिपूर्ण शक्तियो को अभिव्यक्त कर लेते हैं। तदनन्तर जनता को सच्चा उपदेश देते है।

सम्यग्दृष्टिभाव के साथ अणुव्रत, महावृत, पाच समिति, तीन गुप्ति आदि की परिपालना करते हुए गुणस्थानो के आरोहण का स्वरूप बताते है एव अन्ततोगत्वा सिद्ध-बुद्ध अवस्था को प्राप्त कर सदा-सदा के लिए शाश्वत सुख के साथ परमानन्द रूप शान्ति मे अवस्थित हो जाते हे। यह विषय एक-दो तीर्थङ्करो का ही नही, समग्र तीर्थङ्कर दीक्षा ग्रहण करके विविध तप साधना से ही परिपूर्ण विकास को भूतकाल मे पाये, वर्तमान मे महाविदेह क्षेत्र मे पाते है और भविष्य मे भी भरतादि क्षेत्रो से पाएँगे।

उन्ही के उपदेशानुसार अन्य साधक सामान्य केवली के रूप मे विकसित होते हुए त्याग, तप से ही यथाख्यात चरित्र को पाकर केवल-ज्ञानादि से सम्पन्न बनते हैं।

आन्तरिक समता-धारा का तीव्र प्रवाह निरन्तर ऊर्ध्वगामी बनने लगता है तो उस समय कई आत्माएँ अन्तर्मुहूर्त मे भावलिंग रूप साधु जीवन को अगीकृत कर केवलज्ञानी व केवलदर्शी बन जाती है। तदनन्तर यदि उनका आयुष्य अवशेष नही रहता है तो वे अन्तर्मुहूर्त के समाप्त होते-होते मोक्ष पधार जाते है। इसलिए साधु-जीवन की द्रव्य पोषाक अगीकार नही कर पाते है। इस अपेक्षा से वे गृहलिगादि सिद्ध कहलाते है। जिनकी आयु अन्तर्मुहूर्त मे केवलज्ञान होने के पश्चात् भी अवशेष रहती है, वे सासारिक या अन्यलिग की पोषाक मे नही रहते वे साधु जीवन के अनुरूप द्रव्यलिंग से केवली परिषद् मे चले जाते है, जैसे भरत महाराज।

यहाँ समता दृष्टि से सोचना चाहिए कि भरत महाराज ने अनित्यादि भावनाओ से अन्तर्मुहूर्त मे चक्रवर्ती का वैभव एव परिवार सम्बन्धी समग्र परिग्रह रूप लोभ का सदा-सदा के लिए परित्याग कर भाव साधुता की अवस्था मे रमण करते हुए सूक्ष्म लोभ को समीक्षण से क्षीण कर डाला और वे अनत चतुष्टय से सम्पन्न बन गये। इससे यह तो सुनिश्चित था कि आयु समाप्ति पर अवश्यमेव मोक्ष पधारेगे। इतना सुस्पष्ट ज्ञान होते हुए भी वे परिवार एव चक्रवर्ती आदि की परिधि के दायरे मे नही रहे। यहाँ सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि परिवार और वैभव उनके मोक्ष मे अब बाधक नही बन सकता था। परिपूर्ण आत्मिक धर्म की उपलब्धि के साथ आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार उन्हे हो चुका था। फिर परिवार आदि का त्यागकर द्रव्यलिग क्यो ग्रहण किया ?

के साथ-साथ केवलज्ञानादि सर्वश्रेष्ठ आत्मीय शक्तियो का अवमूल्यन करते। क्योकि उस परिवार वैभव की परिधि मे रहने से छद्मस्थ जनसमुदाय उन्हे परिवार का सदस्य ही मान करके चलते। सासारिक परिवेश मे रहते हुए सासारिक सावध कार्य को कर नही सकते थे, जिससे जनता के अन्दर भ्रान्त-धारणा बन सकती थी कि ये चक्रवर्ती होकर राज्यादि का सचालन नही करते ! पारिवारिक कर्तव्यो का पालन नही करते। देशद्रोही, दुष्ट एव अपराधी व्यक्तियो को दड नही देते। बाल-बच्चो को गोद मे नही लेते। ये अकर्मण्य होकर जनता को गलत रास्ते पर डाल रहे है।

आम जनता को केवलज्ञान की उपलब्धि दृष्टिगोचर नही होती। उसका अनुमान वह व्यावहारिक जीवन एव तदनुरूप द्रव्यलिग के साथ केवली परिषद् के अन्तर्गत रहने पर ही कर सकती है। अतएव जैसी आन्तरिक परिणति है उसके अनुसार लिंग का परिवर्तन जब तक नही होता है तब तक वास्तविक सत्य का अनुमान भी नही हो पाता। यदि केवलज्ञान की अवस्था मे गृहस्थाश्रम की पोषाक मे उपर्युक्त सावद्य कार्य करते है तो केवलज्ञान एव यथाख्यातचरित्र का अवमूल्यन होता है। इसका अवमूल्यन एक सम्यग्दृष्टि भी नही कर सकता है तो केवलज्ञानी कैसे कर सकते है। ऐसे कई रहस्य लिग परिवर्तन मे रहे हुए हैं। उनका सागोपाग वर्णन शब्दो की परिधि मे हो नही सकता। केवलालोक आदि अतिशय ज्ञान द्वारा ही गम्य होते है।

केवलज्ञानी तो सावद्य कार्य नही ही नही करते हैं, सच्चे सम्यग्दृष्टि तथा श्रावक वर्ग भी सावद्य कार्य करने मे खेद का अनुभव करते है। वे स्वय करना नही चाहते, किन्तु उन्हे करने पडते हैं। वे लाचारी एव अपनी आत्मिक कमजोरी महसूस करते है। केवलज्ञानी सावद्य कार्य करे एव खेद का अनुभव हो, यह केवलज्ञानी का लक्षण नही है। यह छद्मस्थ व्यक्तियो की अवस्था है। अतएव राज्य सम्बन्धी व्यवस्था एव सावद्य कार्य की परिणति गृहस्थाश्रम मे रहता हुआ व्यक्ति भी करने मे सकुचाता है तो केवलज्ञानी के करने का तो प्रसग ही नही रहता। अस्तु।

परीक्षक सम्राट् से कहता है—इस आध्यात्मिक क्षेत्र मे प्रवेश पाने के लिए समता की अत्यधिक आवश्यकता है। उसके बिना समीक्षणदृष्टि उपलब्ध नही हो सकती है। बिना समीक्षणदृष्टि के जीवन की, त्याग की तथा वासनाओ की सही विज्ञप्ति नही होती है। उसके अभाव मे पुरुष विविध रूपो मे अपने आपको खडित कर लेता है। वह चाहता यह है कि मैं परम सुख और परम शान्ति पाऊँ। लेकिन चाह जितनी जिस रूप मे है, उसके साथ वास्तविक शान्ति एव सच्चे सुख का समीचीन ज्ञान होने पर ही वह उसके अनुरूप साधन की खोज करेगा। उसके अनुरूप साधन उपलब्ध होने पर समीक्षण दृष्टि से वह

होते-होते प्राय सशोधित हो गई। उसी का परिणाम था कि आप उस लोभ का समीक्षण कर पाये। अशुचि से भरी टोकरी द्वारा आपको अशुचि से लथपथ कर दिया गया। फिर भी आपके मन मे रोष आना तो दूर रहा, आपने उसे सशोधन की साधना का अग समझा। इससे मुझे लगा कि आपने पर्याप्त योग्यता प्राप्त कर ली। इस प्रकार पहले घासलेट का बर्तन खाली कर फिर उसकी बदबू को उडाने की विधि आप भव्य तरीके से कर पाये। इसलिए आप मे साधना की परिपूर्ण योग्यता स्वत अभिव्यक्त हो गई। यह वस्तुत साध्य के योग्य समीचीन साधन का कार्य हुआ। इस परीक्षण के दौर मे कर्तव्यवश जो कुछ मुझे करना पडा उसके लिए क्षमा-याचना मैं कर चुका हूँ। आप क्षमा प्रदान करने मे समर्थ है।

परिपूर्ण साधना की योग्यता रूप वीरता आपके चैतन्य देव मे जग चुकी है। अतएव क्षमा ऐसे वीर चैतन्य देव का भूषण स्वत बन जाती है। इसी लिए ज्ञानी जनो ने कहा है—"क्षमा वीरस्य भूषणम्।" वस्तुत शारीरिक बल से वीरत्व नही निखरता, किन्तु आध्यात्मिक बल से आत्मा का वीरत्व चमक उठता है। आपने मुझे तो क्षमा प्रदान कर ही दिया होगा। किन्तु उस बहिन ने जो कुछ भी किया था वह उसने स्वेच्छा से नही किया, किन्तु मेरी प्रेरणा से किया, मेरी आज्ञा का पालन किया। अतएव उसका कोई दोष नही कहा जा सकता। उसके प्रति उस समय आपके मन मे कुछ भी दुर्भाव आया तो उसका भी सशोधन कर उसको भी क्षमा प्रदान कर दीजिए।

इतने मे वह महत्तरानी भी नेत्रो से अश्रुधारा बहाती नत होकर आकर क्षमा याचना करने लगी।

सम्राट् ने कहा—मैने जो कुछ भी तुम्हारे ऊपर रोष किया, वह मेरी बेहोशी थी, अनभिज्ञता थी। वैभव का त्याग करने पर भी घासलेट की बदबू के तुल्य त्याग सम्बन्धी लोभ के नशे से मै अभिभूत था। इस अपेक्षा से बेहोशी कही जा सकती है। उस बेहोशी मे मैने नही करने योग्य कार्य का उपक्रम किया एव तुम्हारे जैसी परीक्षिका की अवज्ञा हुई। उसकी क्षमायाचना मै करता हूँ। तुमने मुझ पर महान् उपकार किया। चाहे तुमने परीक्षक महोदय की आज्ञा का पालन किया, यह तो निमित्त था पर दुष्कर आज्ञा के पालन की क्षमता तुम्हारे अन्दर विद्यमान थी।

मनोनुकूल आज्ञा-पालन करने वाले बहुत हो सकते है किन्तु मन के प्रतिकूल आज्ञाराधना करने वाले विरले ही मानव होते है। तुमने उन विरले मानवो जैसा कार्य किया, वह भी नारी वेष मे। इसलिए तुम भी धन्यवाद की पात्र हो। अगर तुम ऐसा व्यवहार नही करती तो मैंने क्या साधना की, इसकी

दुविधा भरी भटकनो से छुटकारा मिल सके । सुज्ञ पुरुषो को चाहिए कि वे नियत समय पर इस दृष्टि का अभ्यास करे । क्रोधादि अवस्थाओ का समीक्षण करते हुए लोभ का भी समीक्षण करने की शक्ति सपादित कर ली जाय, जिससे अन्यान्य विषयो का समीक्षण सम्यक् प्रकार से हो सके ।

लोभ समीक्षण : उपलब्धि

लोभ सबधी कर्मवर्गणाओ के स्कन्ध कई प्रकार के होते है । उन कर्म स्कन्धो मे वर्ण गधादि पौद्गलिक गुण होते है । वे कर्मस्कन्ध जब आत्म-प्रदेशो के साथ एकमेक होते है तब अध्यवसाय एव लेश्यानुरूप उनकी परिणति होती है । कषाय की तीव्रता एव मदता के तारतम्यानुसार उनमे विपाक पैदा होता है । तीव्र अध्यवसाय से तीव्र फल देने की एव मद अध्यवसाय से मद फल देने की शक्ति उनमे उत्पन्न हो जाती है । यही विपाक बध है । इसी प्रकार तीव्रतर तीव्रतम और मदतर तथा मन्दतम फल प्रदान करने की शक्ति समझनी चाहिए । इस प्रकार अध्यवसाय के अनुरूप विपाक बध होता है और उसी अनुपात मे स्थितिबध होता है । स्थितिबध का तात्पर्य अमुक अवधि तक कर्मस्कन्धो का आत्मा के साथ विद्यमान रहना । कर्मस्कन्ध बँधने के तत्काल पश्चात् फल नही देने लगते । कुछ काल तक फल दिए बिना रहते है । उसे अबाधाकाल कहते है । इस अबाधाकाल की समाप्ति के पश्चात् वे उदय को प्राप्त होते है । जब उदयावस्था होती है तब उन कर्मस्कन्धो के फल का प्रभाव आत्मप्रदेशो की शक्तियो पर होता है । वे शक्तिया लोभ के प्रभाव से प्रभावित होती हुई लोभ सबधी रग से अनुरजित हो जाती है । परिणामस्वरूप उसी के अनुरूप आत्मा के अध्यवसाय होते है । उन अध्यवसायो से आत्मा की सक्रिय शक्तियाँ लोभ की सतृप्ति के लिए कार्यशील हो जाती है । फलस्वरूप आत्मा का भेदविज्ञान धूमिल हो जाता है, जिससे आत्मीय स्वरूप की विस्मृति एव अनात्मीय पर-पदार्थों के प्रति अभिरुचि बन जाती है । उन पर-पदार्थों को आत्मा स्वय अपना मानने लगती है एव उनकी प्राप्ति के लिए समग्र जीवन की समर्पणा करने मे तत्पर रहती है ।

इस वेमानी के कारण चैतन्य देव को क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए ? ऐसा स्पष्ट विवेक नही हो पाता है । वह किंकर्तव्यविमूढ वनकर जड तत्त्वो पर आसक्त बना रहता है । तीव्रतम लोभ के विपाकीय रग से अनुरजित चैतन्यवृत्तिया इस रग से इतनी लिप्त हो जाती है कि जिससे उसको स्व-स्वरूप की तरफ झुकने का प्रसग आना भी अतीव कठिन हो जाता है । इस कठिनता से उसकी पवित्रतम अध्यात्म जीवन सवधी आचरण की शक्तियाँ निष्क्रिय वन जाती है । किरमिची रग के तुल्य इस जटिलतम रग से सम्यक्ज्ञान एव सम्यक् श्रद्धान की अभिव्यक्ति भी नही हो पाती है । कदाचित् कुछ झलक

इस खजन रग से वस्त्र लिप्त बन जाय तो उस वस्त्र से खजन के रग को हटाने के लिए सत्पुरुषार्थ करने पर वह कुछ हल्का हो सकता है। उसमे भी विभिन्न तरतमताए रहती है। उस खजन रग की तरतमताओ की अवस्था मे रहने वाले लोभ को शास्त्रीय भापा मे अप्रत्याख्यानावरणीय लोभ कहा जाता है। इसकी उपस्थिति मे अनतकाल मे अथवा अनादिकाल से पूर्व मे कभी उपलब्ध न होने वाले सम्यक्त्व-रत्न को उपलब्ध किया जा सकता है।

सम्यक्त्व-रत्न की उपलब्धि मे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के साथ आत्मीय उपलब्धियो की श्रद्धा से सम्पन्न हो सकता है, एव ऐसे सम्यक्त्व-रत्न की प्राप्ति होने पर अनतानुबधी एध मिथ्यात्व सबधी प्रकृतियो का क्षय करने या होने पर क्षायिक सम्यक्त्वरूप लोकोत्तर रत्न को सदा-सदा के लिए प्राप्त कर लेता है जिसका फिर कभी भी अन्त नही होगा अथवा अनतानुवधी तथा मिथ्यात्वमोह सबधी प्रकृतियो का सर्वथा उपशम कर दे तो शान्त-प्रशान्त अनुभूति रूप उपशम-समकित की उपलब्धि होती है। किंतु इसकी अवस्था अन्तर्मुहूर्त काल से अधिक स्थायी नही रह सकती है।

उपर्युक्त प्रकृतियो मे क्षयोपशम की अवस्था आ जाय तो क्षमोपशम सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है। क्षयोपशम रूप सम्यक्त्व-रत्न चैतन्यदेत्र के साथ लगातार रहे तो उत्कृष्ट ६६ (छियासठ) सागरोपम से कुछ अधिक काल तक रह सकता है। यह अवश्य है कि सम्यक्त्व-रत्न के मुख्य इन तीन भेदो मे से किसी एक भेद वाले सम्यक्त्व-रत्न की उपलब्धि के परिणामस्वरूप ससार परीत हो जाता है, अर्थात् अवधियुक्त हो जाता है। वह अवधि भी उत्कृष्ट से उत्कृष्ट देशोन अर्धपुद्गल परावर्तन काल तक की होती है, अर्थात् कोई भी आत्मा एक बार, एक समय के लिए भी यदि सम्यक्त्व-रत्न पा लेता है तो वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त मे भी सदा-सदा के लिए परम सुख और परम शान्तिमय अवर्णनीय, अद्वितीय मोक्ष-सुख की उपलब्धि का अधिकारी हो जाता है। कदाचित् अन्त-र्मुहूर्त मे मोक्ष प्राप्ति न हुई तो अर्धपुद्गल परावर्तन काल की अवधि मे अवश्य कर लेता है। यह सुनिश्चित है। अतएव समीक्षरण ध्यान के क्षणो मे लोभ-समीक्षण करता हुआ साधक इस लोभ के विलग होने की प्रक्रिया के अन्तर्गत कम से कम उपरोक्त उपलब्धियो से सम्पन्न बनता है। तदनन्तर समीक्षरण धारा दृढतर बनने लगे एव ज्ञपरिज्ञा से हेय, उपादेय एव ज्ञेय को यथार्थ स्थान रूप मे समझकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से यथाशक्ति हेय को परित्याग करता हुआ देश-विरति–श्रावकत्व की उपलब्धि कर सकता है।

श्रावक भी यथाशक्ति ज्ञान-दर्शन तथा चरित्र का स्वरूप देश से ग्रहण रने पर गुण-गुणी भाव के अभेद से रत्न की सज्ञा पाता है। श्रावकवर्ग मे स्त्री व पुरुषो का समावेश है। अतएव इनको श्रावक एव श्राविका के नाम से भी

गुणस्थान को वर लेती है। इसमे लोभ का क्षय नही होता है, किन्तु उपशमन होता है। ग्यारहवे गुणस्थान से सीधा बारहवे मे नही जाया जा सकता है, क्योकि वह क्षीण कषाय गुणस्थान है और ग्यारहवाँ उपशान्त वीतराग गुणस्थान कहलाता है।

ग्यारहवे गुणस्थान की अन्तर्मुहूर्त की स्थिति समाप्त होने पर जिस क्रम से ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचा था। उसके हीयमान क्रम से दसवे, नवे गुणस्थानो मे होते हुए आठवे तक साधक आ सकता है। यदि वहाँ पर समीक्षण दृष्टि मे तीव्रता अधिक आ जाती है तब तो उसी दृष्टि पूर्वक आत्मा क्षपक श्रेणी प्रारम्भ कर पुन नवे, दवे गुणस्थानो मे पहुँचती है। दसवे गुणस्थान मे सूक्ष्म लोभ का भी क्षय कर के ग्यारहवे मे नही जाकर सीधा बारहवे गुणस्थान की उपलब्धि कर लेता है। इसको क्षीण कपाय वीतराग दशा कहा जाता है।

आठवे गुणस्थान से प्राय शुक्ल ध्यान की प्रधानता रहती है। उसी ध्यान के द्वितीय चरण से आत्मा बारहवे गुणस्थान मे रहती हुई ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय इन चार घाती कर्मों को क्षय कर लोकालोक प्रकाशक केवल ज्ञान और केवल दर्शन से सम्पन्न अरिहत परमात्मा वन जाता है। इस प्रकार लोभ सबधी कर्म वर्गणाओ की तरतमता बहुत ही मननीय है।

तात्पर्य यह है कि यह लोभ एक दृष्टि से मोहवृक्ष का बीज है और दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो समग्र ससार-परिभ्रमण का प्रमुख हेतु है। इस लोभ की अत्यधिक जटिलता मिथ्यात्व के उदय मे रहती है। उस समय इस जटिल लोभ का आत्मा पर अत्यधिक गहरा प्रभाव रहता है। अतएव आत्मप्रदेशो की वास्तविक शक्तियाँ किरमिची रग के तुल्य लोभ के रग से अनुरजित रहती है। उस रग की अवस्था हल्की पडने पर आत्मा को जागृति के स्वर पर आस्था होती है। इस अर्थ मे आत्म-प्रदेश इस रग से विरहित होते है और फिर क्रमश. आत्मशुद्धि की प्राप्ति होती है। इस उपलब्धि मे भी लोभ का असर रहता है किन्तु वह असर इतना सघन नही होता है कि जिससे चैतन्य स्वरूप का विज्ञान ही न हो सके। किरमिची रग के लोभ और इस लोभ मे एक दृष्टि से रात और दिन जितना अन्तर पड जाता है।

मिथ्यात्व अवस्था के लोभ को अमावस्या के सघन अन्धकार वाली रात्रि की उपमा दी जा सकती है। द्वितीय प्रकार के लोभ की उपस्थिति मे मेघावृत सूर्य से युक्त दिन की उपमा दी जा सकती है। इस उपमा मे समीक्षण ध्यान

होती जाती है। लेकिन उत्तम साधक उनकी तरफ ध्यान नही देते है और न उनका प्रयोग ही करते है। वे उनसे भी सर्वथा अलिप्त रहते है। कभी कभी साधको के जीवन मे चमत्कार दृष्टिगत होता है, वह स्वत ही, अनायास हो जाता है। वे उत्तम साधक चमत्कार दिखाने की दृष्टि से कुछ नही करते है, किन्तु वह हो जाता है।

इसके विपरीत कोई-कोई साधक प्रारम्भ मे साधना की समीचीनता से जो कुछ भी लब्धियाँ उन्हे प्राप्त होती है उनकी तरफ ललचाते हुए उनका सप्रयोग करने लगते है, वे साधक उत्तम नही कहलाते। प्रत्युत जितनी साधना लब्धियो की ओर ध्यान नहीं देने से पूर्व बनती है, वह साधना भी उनके प्रयोग से मद हो जाती है और अग्रिम उत्तम साधना से अनायास प्राप्त होने वाली लब्धियाँ अवरुद्ध हो जाती हैं। पूर्व प्राप्त भी मद पड जाने से पूरी कामयाबी नही होती है। अतएव समीक्षण ध्यान के साधक को निरन्तर लोभ का समीक्षण करते रहना चाहिए जिससे साधना मे स्खलना न आने पाए।

ऐसे साधक यथासमय सूक्ष्म लोभ का भी सक्षय कर सर्वथा विघ्न-बाधाओ से रहित, अनत सूर्यों के प्रकाश से भी उपमित नही होने वाले केवल ज्ञान रूपी सूर्य को उदित कर लेता है। समीक्षण दृष्टि क्रमिक रूप से विकसित होती हुई चरमोत्कर्ष को प्राप्त होकर केवल ज्ञान मे समाविष्ट हो जाती है।

इस प्रकार लोभ समीक्षण का कार्यक्रम चतुर्थ गुणस्थान मे (सम्यग्दृष्टि भाव मे) प्रारम्भ होता है। उस समय सकाम निर्जरा का क्रम प्रारम्भ होता है। अर्थात्—आत्मा को आवृत करने वाले कर्मों का आत्मा से विलग होना और नवीन कर्म बधन का कम होना आरम्भ होता है। इस चतुर्थ गुणस्थान मे जितनी सकाम निर्जरा होती है उससे असख्यात गुणी अधिक सम्यक् दृष्टि भाव पूर्वक देशव्रती नामक पचम गुणस्थान मे होती है। पचम गुणस्थान मे जितनी आत्मशुद्धि होती है उससे भी असख्यात गुणी-असख्यात गुणीषष्ठ आदि अगले अगले गुणस्थानो मे होती है। इस प्रकार लोभ-समीक्षण से कितनी और कैसी-कैसी उपलब्धियाँ होती है, इसका सुज्ञ पुरुष अनुमान कर सकता है।

उपर्युक्त उपलब्धियो के साथ क्रमिक रूप से वास्तविक, शाश्वत, अविनाशी परम सुख और परम शाति की मात्रा वृद्धिगत होती हुई एक न एक दिन परिपूर्णता को प्राप्त हो जाती है।

वर्तमान जीवन मे भी साधक साधना कालीन यथायोग्य आनन्द का अनुभव करता हुआ मनुष्यतन की पर्याय को सार्थक एव सफल बना लेता है।